युगत्रये पूर्वमतीतपूर्वे,
जातास्तु जाता खलु धर्ममल्ला।
अयं चतुर्थो भवताच्चतुर्थे,
धात्रेति सृष्टोऽस्ति चतुर्थमल्लः॥

# सहायकगण की शुभ नामावली

दिवाकर दिव्य ज्योति के नाम से स्व० श्री जैन दिवाकर प्रसिद्ध वक्ता पंडित रत्न मुनि श्री चौथमलजी महाराज के प्रभावशाली व्याख्यान सीरिज रूप में प्रकाशित कराने के लिए निम्नलिखित महानुभावों ने सहायता देकर अपूर्व लाभ लिया, इसके रुपयेः—

१००१) श्री श्वे. स्था. जैन महावीर मण्डल, उदयपुर
५०१) श्रीमान् सेठ सिरेमलजी नन्दलालजी पितलिया, सिहोर की छावनी
५००) श्रीमान सेठ गुलराजजी पूनमचन्दजी, मदनगंज
३००) ,, ,, चौथमलजी सुराणा, नाथद्वारा
२५०) { ,, ,, कुंवर मदनलालजी संचेती, ब्यावर
,, ,, सेठ जीवराजजी कोठारी नसीराबाद }
२०१) ,, ,, साहबलालजी मेहता फर्म गुलाबचंद भंवरलाल मेहता धानमन्डी, उदयपुर
२००) ,, ,, शंभूमलजी गंगारामजी बंबई फर्म की तरफ से श्रीमान् सेठ केवलचंदजी सा. चौपड़ा सोजत सीटी
१५१) ,, ,, चंदनलालजी मरलेचा शूलाबजार, बैंगलोर केंट
१२१) ,, ,, गेंदालालजी मोतीलालजी सा. पोरवाड़ इंदौर

१५१) श्रीमान् सेठ हजारीमलजी चंपालालजी सगरावत
मु० निम्बाहेड़ा ( राज.
१५०) ,, ,, रोजमलजी नन्दलालजी, भुसावल
१५०) ,, ,, हस्तीमलजी जेठमलजी, जोधपुर
१२१) ,, ,, कन्हैयालालजी कोटेचा की धर्मपत्नी सौभाग्यवती सूरजबाई कोटेचा फर्म कन्हैयालाल चाँदमल कोटेचा, बोदवड़ ( पू खा. )
१२५) ,, ,, जिनगर अमरचन्दजी इन्द्रमलजी गोतमचंदजी जैन गंगापुर
१२५) ,, ,, कस्तूरचन्दजी पूनमचन्दजी जैन, गंगापुर
१२५) ,, ,, ठेकेदार तोलारामजी भवरलालजी, उदयपुर
१२५) ,, ,, धनराजजी फतहलालजी, उदयपुर
१२५) ,, ,, श्रमती सौभाग्यवती तारादेवीबाई कोटेचा, फर्म श्रीमान् सेठ मांगीलालजी केसरीचंदजी कोटेचा, भुसावल ( पू० खा० )
१०१) ,, ,, श्रीमान सेठ रंगलालजी भामड़ नादूरा वाले की धर्मपत्नी श्रीमती सौभाग्यवती तुलसी बाई नादूरा ( बरार )
१०१) श्रीमान् जिनगर तेजमलजी रोशनलालजी गंगापुर (मेवाड़)
१०१) ,, पन्नालालजी बाफणा की पूज्य मातेश्वरी मोहनबाई उदयपुर
१०१) श्रीमान् सेठ मोतीचन्दजी रतनचन्दजी चोरड़िया
मु० कटंगी ( बालाघाट )
१०१) ,, ,, गणेशलालजी भँवरलाल पंसारी कोटा
१०१) ,, ,, अमोलकचंदजी बोहरा फर्म
रखबचंदजी लालचंदजी जैन रामगंज मंडी
१०१) ,, ,, श्रीमान् सेठ जसराजजी मोहनलालजी
बोहरा, मु० सोरापुर भंडार

१०१) श्रीमान् सेठ सूरजमलजी सा० बोथरा
फर्म कन्हैयालालजी इन्द्रमलजी जैन,
मु० रामगंज मन्डी

१०१) सौ० पार्वतीबाई फर्म उत्तमचंद नवलचंद एन्ड सन्स
बरड़िया जलगांव ( पू० खा० )

१०१) श्रीमान् सेठ रतनलालजी गांग के सुपुत्र पोपटलालजी की
धर्मपत्नी श्रीमती शान्तिबाई मु० चीचखेड़ा
ता. जामनेर पो. फतहपुर ( पू. खा. )

१०१) श्रीमान् सेठ गणेशमलजी छत्तीसा बोहरा की धर्मपत्नी
श्रीमती सौ. पानबाई, खामगांव

१०१) " " भगनीरामजी हणुमतमलजी झामल तर्फे
श्रीमान् उत्तमचंदजी रतनलालजी झामड़
मु० खामगांव ( बरार )

१०१) " " रामचंद्रजी बोथरा अपने स्व० पूज्य पिताश्री
सेठ घासीरामजी की स्मृति में तांदली (बरार)

१०१) " " धनराजजी हीरालालजी जैन खटोड़ मेड़सी
वाला, मु० पो० अकोला (बरार)

१०१) " " रामानन्दजी मोतीलालजी जांगड़ा
धामणगांव बरोरा ( म. प्र. )

१०१) " " मांगीलालजी चोरड़िया की धर्मपत्नी
श्रीमती राजीबाई बरोरा ( म. प्र. )

१०१) " " भेरूलालजी अणतमलजी बरोरा ( म. प्र. )

१०१) " " सागरमलजी राजमलजी बोहरा
चन्दनखेड़ा वाला बरोरा ( म. प्र. )

१०१) श्रीमान् सेठ गणेशमलजी गुलाबचंदजी गोठी बरोरा (म.प्र.)

१०१) " मोहनलालजी मदनलालजी कोटेचा,
अड़ेगांव वाला ( वर्धा ) बरार

१०१) श्रीमान् बालचंदजी ताराचंदजी कोटेचा मु० वणी (बरार)
१०१) ,, चुन्नीलालजी के सुपुत्र स्व. पानमलजी चोरड़िया, की धर्मपत्नी श्री ताराबाई मु० वणी (बरार)
१०१) ,, मुलतानमलजी बलवन्तरामजी खींचा मु० सावरगांव (बरार)
१००) ,, प्राणलालजी सा. सांखला, उदयपुर
१२१) ,, माणकचंदजी छगनलालजी गोठी, जयपुर
१०१) ,, ज़वाहरमलजी मुल्तानमलजी बम्ब, भुसावल
१०१) ,, हीरालालजी मोतीलालजी धानेचा बोहरा खामगांव
१०१) ,, मिश्रीमलजी पारसमलजी कातरेला, बैंगलोर सिटी
१०१) ,, कन्हैयालालजी बच्छराजजी सुराणा, बागलकोट
१०१) ,, नवरतनमलजी सिंघवी फूलियाकलां
१०१) ,, मन्नालालजी भेरूलालजी पोरवाड़, राजाखेड़ी वाला, मन्दसौर

# प्रधान मंत्रीजी म. का अभिप्राय
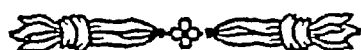
आत्म-विकास और जीवन प्रगति का सुन्दर एवं सरल मार्ग है-सन्त समागम, महापुरुषों के द्वारा उपदिष्ट वाणी को श्रवण और चिन्तन-मनन करते हुए मार्ग पर गति करना। जो महापुरुष इस भौतिकवाद से भरी-पूरी और अज्ञान अन्धकार एवं विकारों से परिप्लावित संसार अटवी में-अध्यात्मिक ज्ञानालोक का साक्षात्कार पा चुके हैं, उनके अन्तर हृदय से प्रस्फुटित उद्गार और स्नेह-रस झरित वचनामृत, वर्तमान युग के साधक के लिए ज्योति-स्तम्भ रूप है और उससे हम अपने जीवन-निर्माण में अलभ्य लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

प्राणी-जगत के विकास में सन्तों को महत्त्व पूर्ण हाथ रहा है। उनके दिव्य-प्रकाश से प्रकाशमान होकर अनंत प्राणियों ने अपना हित साधा है और साधते जा रहे हैं। मनुज में मनुजत्व, इन्सानियत, अमरत्व और ईश्वरत्व का साक्षात्कार कराने वाले संत-सत्पुरुष ही होते हैं। संतों का हृदय उदार एवं विराट् होता है। उनके जीवन में जाति, देश और सम्प्रदाय भेद की भित्तिका नहीं होती है और न घृणित तथा संकीर्ण मनोभावना ही होती है। उनके अन्तर मानस में समस्त प्राणी-जगत के हित की दिव्य एवं भव्य भावना लहराती रहती है और वे प्रतिक्षण स्व और पर के हित साधन में लगे रहते हैं।

स्व. प्रसिद्ध वक्ता, जैन दिवाकर श्री चौथमलजी म. सा. उन सन्तों में से थे, जिन्होंने अपना जीवन आत्म-साधना में लगा रक्खा था। उनकी व्याख्यान शैली और बोलने की कला अपने ढंग की निराली ही थी। गहन से गहन विषय को भी सुगमता से जन-जन के हृदय में ठसा देने की उनके जीवन में अद्भुत शक्ति थी। जिससे श्रोता के हृदय पर सीधा असर होता और वे त्यागप्रत्याख्यान की ओर कदम उठाते थे। आपके उपदेशों से अनेक राजो महाराजाओं ने मूक जीवों की रक्षा करके अभयदान दिया था।

श्री स्व. दिवाकरजी म. के प्रवचन सर्वजनोपयोगी होते थे, आबाल-वृद्ध सभी जन उनके उपदेशों से लाभ उठाते थे। आप उर्दू, फारसी एवं हिन्दी भाषा के भी अच्छे ज्ञाता थे।

दिवाकर दिव्य-ज्योति उसी महापुरुष के अन्तर हृदय से प्रस्फुटित वाणी का संकलन है। इसके तेरह भाग पहले पाठकों के हाथ में पहुँच कर भव्य प्राणियों को मार्ग दिखा रहे हैं। यह चवदहवाँ भाग भी अपना विशेष महत्त्व रखता है। आशा है पाठक वृन्द आचरण के क्षेत्र में मूर्त रूप देकर अपने जीवन का विकास करेंगे।

ता. ७-१-५६<br>कुन्दन भवन<br>ब्यावर

श्री वर्द्ध. स्था. जैन श्रमण संघ के प्रधान मंत्री<br>श्री आनन्द ऋषिजी म. सा. की आज्ञा से<br>—भानु ऋषि 'शास्त्री'

# विषयानुक्रमणिका

१

# मृत्युञ्जय बनो

स्तुति:—

त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांस—
माादित्यवर्णममलं तमसः पुरस्तात् ।
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युं,
नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनीन्द्र ! पन्थाः ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं कि-हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन् ! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय ? प्रभो ! कहाँ तक आपके गुण गाये जाएँ ?

हे आदिदेव ! मुनिजन आपको परम पुरुष मानते है। आपके शरीर का वर्ण सूर्य के सदृश है और आप निर्मल हैं, क्योंकि आप अन्धकार से परे हो चुके हैं। प्रभो ! आपका अवलम्बन पाकर मर्त्य भी अमर्त्य हो जाते हैं-मनुष्य मृत्यु पर

विजय प्राप्त कर लेते हैं। हे मुनिनाथ ! आप शिव-मोक्ष का मार्ग बतलाने वाले है। आपके अतिरिक्त मोक्ष का अन्य मार्ग नहीं है।

ऐसे भगवान् ऋषभदेव है। उनको ही हमारा बार-बार नमस्कार है। मृत्यु ! कितना भयंकर शब्द है ! मृत्यु, मौत, काल, इन्तकाल या Death जिसे कहते हैं, कितनी डरावनी चीज़ है ? मौत का शब्द कान में पड़ते ही हृदय धड़कने लगता है, शरीर काँपने लगता है, रोंगटे खड़े हो जाते हैं, चेहरा उदास हो जाता है और मुँह से विवशता की ठंडी सांस निकल पड़ती है ! मनुष्य जब मौत को भूला रहता है तो नाना प्रकार की योजनाएँ करता है, यह करना है, वह करना है, कल यह करूँगा, परसों वह करूँगा; हवेली बनवानी है, दुकान खोलनी है, सन्तान की शादी करनी है, मोटरकार लानी है, आदि-आदि ! किन्तु जब मौत की याद आ जाती है तो हाथ-पाँव ढीले पड़ जाते हैं और मन की सारी कल्पनाएँ हवा हो जाती हैं !

बड़े-बड़े शूरवीर, शत्रुओं का दिल दहलाने वाले योद्धा, प्रचण्ड प्रतापी सेनापति, सम्राट् और सेठ-साहूकार या साधारण मनुष्य, कोई भी क्यों न हो, मृत्यु सब पर हावी है ! इस विराट विश्व में आज तक एक भी ऐसा विजेता नहीं जन्मा, जिसने मृत्यु पर विजय प्राप्त की हो और जो सशरीर अमर हो गया हो ! असंख्य सम्राट् आये, अनन्त चक्रवर्त्ती हो चुके, अनन्तानन्त धनकुबेर अपनी शान दिखला गये, परन्तु अन्त में सब को एक ही घाट उतरना पड़ा ! सब मौत के शिकार हुए। राजा और रंक, सम्राट् और सेवक, बड़े और छोटे, सब

के साथ एक-सा व्यवहार करने वाली मृत्यु ने सब प्रकार के भेद भाव को समाप्त कर दिया ! इसी कारण यमराज का एक नाम समदर्शी भी है।

मृत्यु अनिवार्य है। "जातस्य हि ध्रुवं मृत्युः" अर्थात् जो उत्पन्न हुआ है, उसकी निश्चित रूप से मृत्यु होने वाली है। संसार की कोई भी शक्ति मृत्यु को रोक नहीं सकती। स्वजन, परिवार, सेना और मित्र वर्ग सब हाथ मलते रह जाते हैं, बचाने के सैकड़ों प्रयत्न करके भी मरने वाले को क्षण भर भी नहीं रोक सकते ! धन के बड़े-बड़े भंडार ज्यों के त्यों भरे रह जाते हैं। मनुष्य उन्हें लुटा कर जीवित रहना चाहे, यहाँ तक कि कुछ समय तक जीवित रहना चाहे तो असंभव है। मौत पर किसी की सत्ता नहीं चल सकती ! मृत्यु किसी का लिहाज़ नहीं करती। उसका सब पर समान रूप से अनुशासन चलता है, पर उस पर किसी का अनुशासन नहीं चलता। वह सर्वतंत्र-स्वतंत्र है।

मनुष्य तो खैर मर्त्य ही कहलाता है, पर "अमर्त्य" कहलाने वाले स्वर्गलोकवासी देवगण भी मौत के भयानक पंजे से नहीं बच पाते। ठीक समय पर मौत उन पर भी हमला कर देती है। अतएव वे भी मौत से डर रहे हैं।

सारांश यह है कि अखिल विश्व के समस्त प्राणधारी मौत के दायरे में खड़े हैं। यद्यपि मृत्यु किसी को प्रिय नहीं है, सभी उससे बचना चाहते हैं पर बच कोई नहीं पाता। जैसे देवराज इन्द्र को अपना जीवन प्यारा है उसी प्रकार गोबर में रमण करने वाले कीड़े को भी अपना जीवन प्यारा है। वह भी मौत से बचने का प्रयत्न करता है।

प्रश्न हो सकता है कि अनन्त शक्ति से सम्पन्न आत्मा क्या इतना दुर्बल है कि वह मृत्यु पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता ? क्या मृत्यु प्रत्येक परिस्थिति में अनिवार्य है ?

इस प्रश्न का उत्तर आचार्य महाराज ने यहाँ दिया है। वे कहते हैं—

त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युम् ।

जो भव्य प्राणी सम्यक् प्रकार से प्रभु आदिनाथ की शरण में जाता है, वह मृत्यु को जीत लेता है।

वास्तविक बात यह है कि आत्मा स्वभाव से तो अजर-अमर ही है। वह अनादि और अनन्त सत्ता है। जन्म, जरा और मरण से अस्पृष्ट, शुद्ध चेतनामय परमतत्त्व है। किन्तु अनादिकाल से कर्म की उपाधि से ग्रस्त है और इसी कारण जन्म-मरण के चक्र में फँसी हुई है। जब वह सम्यग्भाव से मृत्युञ्जय वीतराग देव की शरण ग्रहण करती है, उनके आचरित एवं प्रदर्शित पथ का अनुसरण करती है, तब वह निष्कर्म, निरुपाधि एवं निर्विकार होकर अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाती है। उस समय काल का चक्र उस पर नहीं चलता। कहा भी है—

चार घातिया कर्मों का जिनने संहार किया है,<br>
मोह-अन्ध जीवों को जिनने धर्म-प्रदीप दिया है।<br>
जो सर्वज्ञ विश्व-उपकारक इस जग के तारक हैं,<br>
वे अरिहन्त देव अशरण के शरण मृत्युहारक हैं॥

\+ + + +

कालजयी प्रभु सिद्ध, साधु जिनधर्म तथा भयकारी,
ले इनका शुभ शरण यही हैं अनुपम मंगलकारी।
भव-अरण्य में है शरण्य इनके अतिरिक्त न दूजा,
मन-मन्दिर में इनकी कर ले शुद्ध हृदय से पूजा ॥

अरिहन्त, सिद्ध, निर्ग्रन्थ साधु और वीतरागप्ररूपित दयामय धर्म, यही चार ऐसे शरण हैं, जिन्हें पाकर प्राणी निर्भय और मृत्युविजेता बन जाता है।

भाइयो! भगवान् ने मृत्यु को ही मारने का मार्ग बतलाया है। उन्होंने स्वय जिस मार्ग पर चल कर मृत्यु को जीतो, वही मार्ग अनुग्रह करके हमें बतलाया है। उस मार्ग पर जो चले, उन्होंने मौत को जीता है और जो चलेंगे वह जीतेंगे।

हर वक्त तुम्हारे ऊपर मौत सवार रहती है तो एक वक्त तो तुम भी उस पर सवार हो जाओ! एक बार सवारी की कि सदा के लिए उसने तुमसे अपना पिण्ड छुड़ाया! परन्तु इसके लिए, जैसा कि अभी कहा है, भगवान् आदिनाथ की शरण में जाना होगा और वह भी अशुद्ध या असम्यक् भाव से नहीं, सम्यक् भाव से जाना होगा। लौकिक भावनाओं से, भोगोपभोग की सामग्री प्राप्त करने की कामना से प्रेरित होकर भगवान् का भजन करने वाले बहुत हैं, किन्तु आत्मशुद्धि की भावना से भगवान् की शरण में जाने वाले विरले ही होते हैं और वही मृत्युञ्जय पद के अधिकारी बनते हैं। अतएव अगर आपके हृदय में सचमुच ही मृत्यु के प्रति विराग उत्पन्न हुआ है तो उसे जीतने का उपाय भी है।

भगवान् की शरण में जाने का अभिप्राय भगवदादेश को अन्तःकरण से अंगीकार करना है। भगवान् का प्रथम आदेश अहिंसा की आराधना करना है। अहिंसा का अर्थ है-संसार के किसी भी प्राणी को मन, वचन और काय से कष्ट न पहुंचाना। संसारी जीव छह वर्गों में विभक्त हैं-(१) पृथ्वीकाय (२) अप्काय (३) तेजस्काय (४) वायुकाय (५) वनस्पतिकाय और (६) त्रसकाय। यह तो छह मोटे-मोटे वर्ग हैं। इनके अन्तर्वर्ग अनेक हो सकते हैं और उन सब वर्गों में विपुलसंख्यक जीव विद्यमान हैं। पृथ्वीकाय के एक कण में इतने जीव हैं कि कदाचित् उन जीवों का शरीर कबूतर के शरीर के बराबर हो जाय तो वे इस एक लाख योजन के लम्बे-चौड़े जम्बूद्वीप में नहीं समा सकेंगे! पानी में इतने जीव हैं कि उनका शरीर अगर भ्रमर के बराबर बन जाय तो वे भी समग्र जम्बूद्वीप में नहीं समा सकेंगे! अग्नि के जीव यदि राई के बराबर शरीर बना ले तो वे भी जम्बूद्वीप में न समा सकें। वायुकाय के जीव तो और भी अधिक हैं। उनका शरीर खसखस के दाने जितना हो जाय तो उनका समावेश भी जम्बूद्वीप में संभव न हो। और फिर वनस्पतिकाय के जीवों की तो बात ही न पूछो! उनकी संख्या का तो पार ही नहीं है! सुई के अग्रभाग पर समा सकने जितनी निगोद--वनस्पति के छोटे--से टुकड़े में ही अनन्तानन्त जीव मौजूद हैं! तो फिर संसार भर की वनस्पति के जीवों का क्या हिसाब बतलाया जा सकता है?

छठा त्रसकाय है। पूर्वोक्त पाँच प्रकार के जीव स्थावर कहलाते हैं। यह छठे प्रकार के त्रसजीव हिलने--चलने वाले हैं और सहज ही हमारी बुद्धि में आ जाते हैं। यद्यपि अनगार मुनि स्थावर और त्रस--दोनो प्रकार के जीवों की हिंसा के

त्यागी होते हैं; तथापि गृहस्थ जनों का जीवन व्यवहार साधुओं की तरह पूर्ण रूप से हिंसा का त्याग करने से नहीं चल सकता। फिर भी उन्हें कम से कम त्रस जीवों की हिंसा का त्याग तो करना ही चाहिए। जिससे इतना भी न बन सके, उसे निरपराध त्रस जीव की संकल्पी हिंसा से तो हर हालत में बचना ही चाहिए। यह गृहस्थ के अहिंसाव्रत की कम से कम सीमा है। जो इस सीमा तक भी हिंसा का त्याग नहीं करते वे आंशिक अहिंसक की कोटि में भी नहीं आ सकते।

अहिंसा परम धर्म है और हिंसा घोर पाप है, यह एक सर्वसम्मत सिद्धान्त है। जो हिंसा के त्यागी और अहिंसा के आराधक नहीं है, वे भी धर्म तो अहिंसा में ही मानते है। हिंसा को धर्म कहने वाला कोई मत या पंथ नहीं है। यह सत्य है कि हिंसापूर्ण यज्ञों को भी कोई कोई धर्म में अन्तर्गत करते हैं, फिर भी वे उस हिंसा को हिंसा नहीं मानते। "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" यह उनका मन्तव्य है। यद्यपि उनका यह मन्तव्य भ्रमपूर्ण है, क्यों कि हिंसा किसी भी हालत में अहिंसा नहीं बन सकती, फिर भी इससे इतना तो साबित हो ही जाता है कि वे अहिंसा मान कर ही हिंसा करते हैं। तात्पर्य यह है कि अज्ञान या भ्रम से हिंसा करने वाले भी अहिंसा को ही धर्म समझते हैं।

तो अहिंसा धर्म सर्वसम्मत और आद्य धर्म है। ऐसी स्थिति में यदि कोई जीवों को मारने का काम करता है तो वह अपने ही मरने का रास्ता साफ करता है। वैष्णव मत में कहा गया है कि यदि तुम एक गाय की हिंसा करते हो तो याद रक्खो, गाय के शरीर पर जितने रोम हैं, उतनी ही बार तुम्हें

मरना पड़ेगा। अतएव जो मारेगा उसे मरना पड़ेगा। यह एक निरपवाद सिद्धान्त है।

अहिंसा को धर्म कहने वाले लोग भी जीव और अजीव की सही जानकारी न होने के कारण और अहिंसा के ठीक स्वरूप को न समझने के कारण हिंसा का समर्थन कर बैठते हैं अथवा अहिंसा की सीमाएँ अत्यन्त संकीर्ण बना डालते हैं। कई लोग मनुष्यों में ही आत्मा मानकर कहते हैं कि मनुष्यों को नहीं मारना चाहिए। कई मतान्ध हिन्दु तो यहाँ तक कह बैठते हैं कि मुसलमानों को मारने में पाप नहीं है। मुसलमान कहते हैं कि काफ़िरों को मारने से बहिश्त मिलता है। कइयों ने कह दिया है कि गाय में तेतीस कोटि देवताओं का वास है, इस कारण उसे मारने में तो पाप है, मगर भैंसे और बकरे मारने में पाप नहीं है-हिंसा नहीं है!

यह सब अहिंसा संबंधी नासमझी का परिणाम है। जैन धर्म ने अहिंसा का परिपूर्ण विवेचन किया है और जीव तथा अजीव के संबंध में भी पूर्ण प्रकाश डाला है। अतएव उसका आदेश है कि किसी भी प्राणी को मत मारो, किसी भी देहधारी को न सताओ, यहाँ तक कि सताने और मारने का संकल्प भी मन में न जागने दो। किसी भी प्राणी को सताओगे और दुःख दोगे तो तुमको भी दुःख मिलेगा और मरना पड़ेगा।

जैसा कि अभी बतलाया है, पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति में भी जीव है। अतएव चमेली या गुलाब का फूल तोड़ोगे तो तुम्हें उसका बदला चुकाना पड़ेगा। अग्नि का आरंभ-सारंभ करोगे तो फल भोगना होगा। हरी वनस्पति-दूब आदि को कुचलोगे, तोड़ोगे, नष्ट करोगे तो तुम्हें मरना

पड़ेगा। किसी भी प्राणी को मारना स्वयं मरने की तैयारी करना है। बम्बई भागने की कोशिश करोगे तो वारंट निकलेगा और सूरत के स्टेशन पर पानी पीने को उतरोगे तो वहीं हथ-कड़ियाँ डल जाएँगी। तुम सोचते होगे कि मर जाएँगे तो फिर कौन कर्मों का फल भोगेगा! मगर यह न सोचो। कर्म बड़े बलवान् हैं। पुलिस तो इसी जन्म में पीछा करती है और इस दुनिया के किसी छोर में चले जाने पर भी नहीं छोड़ती, किन्तु कर्म इस दुनिया में भी और उस दुनिया ( परलोक ) में भी पीछे पड़े रहते हैं। पुलिस कदाचित् अपराधी को गिरफ्तार करने में असफल भी हो जाती है, पर कर्म कदापि असफल नहीं होते। कर्मों के जाल से किसी भी प्रकार बच नहीं सकते!

अवश्यं हि अनुभोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ।

शुभ या अशुभ, जो भी कर्म किये हैं, जीव को अवश्य भोगने पड़ते हैं। जैसे हजारों गायों में से बछड़ा अपनी माता को पहचान कर उसके पास चला जाता है, उसी प्रकार कर्म अपने कर्त्ता के पास पहुँच जाते हैं।

मत समझो कि मरने से कर्म छूट जाएँगे। यह स्थूल शरीर छूट जायगा, किन्तु कर्म-शरीर पिण्ड छोड़ने वाला नहीं है। स्थूल शरीर बदलना ही मृत्यु है और इसके बदल जाने पर भी कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। कोई गुंडा पुलिस को धोखा देने के लिए कभी मारवाड़ी, कभी पंजाबी या कभी बंगाली पोशाक पहन ले तो क्या होशियार पुलिस की आँखों से वह बचा रह सकता है? नहीं, पुलिस उसे पकड़ लेती है। इसी प्रकार चोला बदल लेने पर भी और अन्यत्र चले जाने पर भी कर्मों से छुटकारा नहीं मिल सकता। कर्म कदापि भ्रम

में नहीं पड़ते, कभी नहीं चूकते। पुलिस को रिश्वत देकर बच सकते हो, पर कर्मों से इस उपाय से भी नहीं बच सकते। कीड़े के रूप में जन्म ले लोगे तो कर्म वहाँ भी खड़े रहेंगे!

तो अब क्या विचार है? अगर मरण से बचना है तो तुम भी किसी को मत मारो, क्यों कि मारनो मरना ही है। श्रीमदाचारांगसूत्र में कहा है:—

'तुमंसि णाम तं चेव जं हंतव्वंति मण्णसि,

—आचारांग, अ. ५ उ. ५

जिसे तुम हनन करने योग्य मानते हो, वह तुम ही हो!

इसलिए मैं कहता हूँ कि अनादि काल से मरते चले आ रहे हो, अनन्तानन्त बार मौत के शिकार हो चुके हो, अब तो ऐसा यत्न करो कि मौत से छुटकारा पा सको! और मौत से छुटकारा पाने का उपाय यही है कि किसी भी प्राणी की मौत के कारण न बनो।

हिंसा के फल में भी तरतमता होती है। जीवन के लिए पानी पीना अनिवार्य है, ऐसा समझ कर पानी पीना और पानी को निरर्थक ढोल देना दोनो समान कार्य नहीं हैं। खेती करते जीवहिंसा हो जाना और धर्म समझ कर किसी प्राणी को गला काट देना भी समान नहीं है। दोनो जगह भावना का भेद है और भावना के भेद से हिंसा के फल में भी भेद हो जाता है। इन सब बातों को समझ कर अधिक से अधिक अहिंसक बनने का प्रयत्न करो। दूसरे कितनी हिंसा करते हैं, यह मत सोचो। देखादेखी मत करो। दूसरे पाप करते हैं तो मैं भी पाप क्यो न करूँ, यह मत सोचो। देखादेखी करने से

कितनी विडम्बना होती है, यह बात एक उदाहरण से समझनी चाहिए।

किसी सेठजी का कारखाना चल रहा था। वह एक सुन्दर मकान बनवा रहे थे। बहुत-से कारीगर काम कर रहे थे। सेठजी की उम्र करीब २४-२५ वर्ष की थी। अच्छे मालदार थे और मौजी तबियत के आदमी थे। वह अपने घर गये और सेठानी से पीने के लिए पानी मँगवाया। कमरा सुन्दर फर्नीचर से सजा हुआ था। वह एक कुर्सी पर बैठ गए। सेठानी लोटा और गिलास लेकर छम-छम करती हुई आई और गिलास में पानी उड़ेल कर उसने सेठ को दिया। सेठजी ने पानी पीया। अन्त में सेठानी ने जो गिलास भर कर दिया तो सेठ ने पानी मुँह में भर लिया और फुर्र फुर्र करके सेठानी पर थूक दिया। सेठानी की रेशमी साड़ी कई जगह गीली हो गई, किन्तु वह प्रसन्न होती हुई वापिस लौट गई। उसके चेहरे पर न तो गुस्सा दिखाई दिया, न अरुचि का भाव!

एक मज़दूर काम करता हुआ यह दृश्य देख रहा था। उसने अपने मन में सोचा—मनुष्य जन्म की मौज तो यही लूट रहे है। मैं भी छुट्टी होने पर घर जाकर यही धंधा करूँगा!

छुट्टी हुई और मज़दूर घर गया। उसने सेठ की नकल करने का उपक्रम किया। कमरा तो था, मगर कुर्सी उसके घर में नहीं थी। अतएव वह कुर्सी के बदले चूल्हे पर बैठ गया। फिर बड़ी शान के साथ अपनी पत्नी से बोला—मेरे लिए पानी लाओ!

स्त्री पानी पिलाने की तैयारी करने लगी। उसके घर

में पीतल का लोटा था। वही भर कर उसने अपने पति के सामने हाजिर किया। मगर आज पति का मिजाज और ही किस्म का था। उसे सेठ की नकल करनी थी। अतः उसने पत्नी से कहा-यों नहीं, लोटे पर कपड़ा लपेट कर लाओ और गिलास भी लाओ!

बेचारी पत्नी फटे कपड़े का एक चीथड़ा लपेट कर और गिलास के बदले दिया लेकर पहुँची। वह दिये में पानी भर-भर कर पिलाने लगी। पीने के पश्चात् इसने भी मुँह में कुल्ला भरा और अपनी पत्नी पर फुर्र कर दिया!

जैसे भट्ठे में जले हुए चूने पर पानी पड़ते ही आग भड़क उठती है, उसी प्रकार मजदूर की पत्नी का क्रोध भी पानी पड़ते ही भड़क उठा। उसने उसी वक्त पास में पड़ी हुई झाड़ू उठाई और पति देवता की पूजा उतरना शुरु किया! दो-चार लकड़ी भी जमा दी।

मजदूर बोला--तू ने बहुत बुरा किया! सेठजी के यहाँ तो ऐसा नहीं हुआ था!

दूसरे दिन मजदूर काम पर नहीं गया। सेठजी उसे बुलाने गये तो मजदूर ने कहा--अब मैं आपके यहाँ काम नहीं करूँगा। आपने कल पानी पिया और फुर्र किया, वैसे ही मैंने भी किया! किन्तु मेरी औरत ने मुझे बुरी तरह मारा!

सेठ बोला- अरे मूर्ख, तुझसे किसने कहा था कि तू बिना सोचे-समझे दूसरों की देखादेखी करना!

संसार में अधिकांश लोग देखादेखी करके अपने लिए

मुसीबतें बुला लेते हैं। अधिकांश लोग दूसरों का अन्धानुकरण करते है और अपनी स्थिति का विचार नहीं करते। विवाह-बरातों में तथा दूसरे रीति-रिवाजों में लोग धनवानों का अनुकरण करना छोड़ दें और अपनी परिस्थितियों के अनुसार ही व्यय करें तो वे अनेक कठिनाइयों से बच सकते हैं। आज सर्वत्र मध्यम श्रेणी के गृहस्थ असन्तोष प्रकट करते देखे जाते हैं। किन्तु उन्होंने कभी ठीक तरह विचार नहीं किया कि उनके कष्टों का एक मुख्य कारण अन्धानुकरण है! वे प्रथमश्रेणी के धनवानों की देखादेखी करके अपनी हैसियत से ज्यादा खर्च करके ऋणी बन जाते हैं और फिर दुखी होते हैं!

कई लोग बाप दादाओं का अनुकरण करके हिंसा में प्रवृत्ति करते हैं। जानते हैं कि किसी मूक प्राणी की हत्या करना अच्छा नहीं है, फिर भी बाप-दादा बकरा काटते आये हैं, तो वे भी बकरा काटेंगे! वास्तव में अपनी बुद्धि से स्वयं हित-अहित का विचार न करके दूसरों का अनुकरण करना अपनी प्रज्ञा का अपमान करना है। अगर तुम अपनी निज की बुद्धि से नहीं सोचते तो तुम्हारी बुद्धि किस काम की है? अपनी बुद्धि का उपयोग करने वाले ही वास्तव में बुद्धिमान् कहलाने के अधिकारी है। अतएव हित-अहित का स्वय विचार करो और कोई भी रूढ़ि, कितने ही प्राचीन काल से क्यों न चली आई हो, अगर विचार की तराजू पर बराबर नहीं तुलती तो उसे त्याग दो!

मैं हिंसा-अहिंसा की बात कह रहा था। यदि तुमने समझ लिया है कि हिंसा इस लोक और परलोक में सुखावह नहीं है, उससे आत्मा का अधःपतन होता है, अकल्याण होता

है; और अहिंसा अमृत के समान अमर बनाने वाली है, मृत्यु पर विजय प्राप्त कराने वाली है, तो फिर रूढ़ि या परम्परा का विचार मत करो। हिंसा का त्याग करके अहिंसा की शान्ति-दायिनी पावनी छाया में आ जाओ!

अहिंसा से मर्त्य अमर्त्य बनता है और अहिंसा ही प्रधान धर्म है। संसार में जितना भी सुख और जितनी भी शान्ति दृष्टिगोचर होती है, वह सब अहिंसा धर्म का ही प्रताप है। हिंसा मौत है जहर है, उसमें शान्ति की संभावना भी कहाँ है? जब अहिंसा ही धर्म है और धर्म के प्रताप से ही सुखी हो सकते हो तो फिर धर्म से विरुद्धता क्यों करते हो? यदि इसी प्रकार विरुद्धता करते रहोगे तो आगे तुम्हारी क्या दशा होगी? देखो न, ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने धर्म से मुँह फेर लिया तो उसे सातवें नरक में जाना पड़ा। चाहते हो कि हम धनसम्पन्न बन जाएँ, पुत्र-पौत्र आदि परिवार वाले बने रहें, सब प्रकार की सुख-सामग्री हमें प्राप्त हो, मगर धर्म की उपेक्षा करते हो! तो यह कैसे हो सकता है? नीम का रस पीकर मुँह मीठा करने की इच्छा किस प्रकार सफल हो सकती है? तुम धर्म का रक्षण और पालन करोगे तो धर्म तुम्हारा रक्षण और पालन करेगा। धर्म से ही सब सुखों की प्राप्ति होगी।

बीसवें मुनिसुव्रतनाथ स्वामी के समय की बात है। पहले देवलोक के अधिपति शक्रेन्द्र महाराज, उस समय कार्तिक सेठ के भव में, हस्तिनापुर में थे। सेठजी की १००८ दुकानें थीं। तीर्थंकर भगवान् का पदार्पण हुआ तो वह भी दर्शन करने और धर्मोपदेश सुनने गया। भगवान् को विधिवत् वन्दना-नमस्कार करके अपने योग्य स्थान पर बैठ गया। भगवान् ने

धर्मामृत की वर्षा की। बतलाया कि जगत् यद्यपि अत्यन्त विराट प्रतीत होता है, तथापि इसके मूल का अन्वेषण किया जाय तो दो ही तत्त्व उपलब्ध होते हैं-जीव और अजीव। इनमें जो जीवतत्त्व है, वह चैतन्यस्वरूप है। चैतन्य का अर्थ है ज्ञान। ज्ञान आत्मा का लक्षण है।'

लक्षण दो प्रकार के होते हैं—अविष्वग्भूत और विष्वग्भूत। जो लक्षण लक्ष्य पदार्थ से अभिन्न होता है, उसे अविष्वग्भूत लक्षण कहते हैं और जो लक्ष्य से भिन्न होता है वह विष्वग्भूत कहलाता है। ज्ञान आत्मा का अभिन्न लक्षण है। अनादि काल से आत्मा के साथ है और अनन्त काल तक साथ ही रहेगा। मगर साथ रहने के कारण ही ज्ञान को आत्मा से अभिन्न नहीं कहते बल्कि ज्ञान और आत्मा एक ही हैं। ज्ञान आत्मस्वरूप है और आत्मा ज्ञानस्वरूप है। दोनों का तादात्म्य संबंध है। ज्ञान के बिना आत्मा की कल्पना नहीं की जा सकती और आत्मा के बिना ज्ञान की भी कल्पना नहीं की जा सकती।

यों तो शरीर भी आत्मा के साथ अनादिकाल से जुड़ा हुआ है और कभी मोक्ष न पाने वाले अभव्य जीवों की आत्मा के साथ अनन्त काल तक जुड़ा रहेगा, तथापि आत्मा और शरीर में तादात्म्यसंबंध नहीं है, केवल संयोगसबंध है। शरीर आत्मा नहीं है और आत्मा शरीर नहीं है। किंतु ज्ञान आत्मा है और आत्मा ज्ञान है। ज्ञान और आत्मा में तादात्म्यसबंध है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन में ज्ञान को आत्मा का गुण तो माना गया है, किन्तु दोनों का भेद स्वीकार किया है। अर्थात् ज्ञान अलग पदार्थ है और आत्मा अलग पदार्थ है। आश्चर्य

की बात तो यह है कि इन दर्शनों ने मुक्ति प्राप्त होने पर ज्ञान का सर्वथा विनाश हो जाना भी मान लिया है। उनके मत से मुक्तात्मा सर्वथा अज्ञानदशा में पहुँच जाता है। किन्तु जैन-दर्शन ऐसा नहीं मानता !

जिन दो पदार्थों में संयोग संबंध होता है, वे निमित्त पाकर अलग हो जाते हैं, किन्तु तादात्म्य संबंध वाले पदार्थ अलग नहीं हो सकते। और जो अलग-अलग हो सकते हैं या हो जाते हैं, समझना चाहिए कि उनमें तादात्म्य संबंध नहीं है। जैसे शक्कर और शक्कर का माधुर्य अभिन्न है, उसी प्रकार आत्मा और ज्ञान भी अभिन्न हैं। जैसे सूर्य और उसका प्रकाश एक है अथवा मणि और उसकी आभा भिन्न-भिन्न नहीं हैं, इसी प्रकार आत्मा और ज्ञान भिन्न-भिन्न नहीं है।

सांख्यदर्शन में एक अनोखी ही कल्पना की गई है। यह दर्शन ज्ञान अर्थात् बुद्धि को आत्मा का धर्म न मान कर जड़ प्रकृति का धर्म बतलाता है। उसकी मान्यता के अनुसार चेतन तो बोध से रहित है। और जड़ प्रकृति बोधव्यापार रूप है। यह मान्यता ऐसी अनुभव विरुद्ध है कि उस पर विचार करने की भी आवश्यकता नहीं है। 'चिति संज्ञाने" धातु से चेतन शब्द बना है। चेतन का अर्थ ही ज्ञान है। उसे अज्ञान किस प्रकार माना जा सकता है ?

तो यह आत्मा संयोग संबंध से अर्थात् शरीर संबंध से राजी हो रहा है और स्वरूप-संबंध को भूल रहा है। इसी भूल के कारण उसे संसार के विविध प्रकार के दुःख सहन करने पड़ते हैं; नाना भाँति की यातनाओं का पात्र बनना पड़ रहा

है। इन दुःखों और पीड़ाओं का अन्त उसी समय होता है जब आत्मा को स्व-परविवेक होता है। स्व-परविवेक को ऐसा प्रकाश समझना चाहिए, जिसका उदय होने पर सब प्रकार के भ्रम और अज्ञान का अन्त हो जाता है। अज्ञान का समूल नष्ट होना ही अक्षय और शाश्वत सुख की प्राप्ति होना है।

हे भव्यो! स्व परविवेक और शाश्वत सुख को प्राप्त करने का सुयोग अत्यन्त दुर्लभ है। असंख्य प्रकार के कीट और दूसरे प्राणी इस जगत् में बिलबिला रहे हैं। वे न उपदेश सुन-समझ सकते हैं, न अपने आपको पहचान सकते हैं, न आत्मशुद्धि का प्रयत्न कर सकते हैं और न अक्षय सुख को प्राप्त कर सकते हैं। अपना बड़ा भाग्य समझो कि तुम्हें यह मनुष्य-दशा मिल गई है। इसी दशा से आत्मकल्याण हो सकता है। अतएव—

विरम विरम संगान्मुञ्च मुञ्च प्रपञ्चम्!

परपदार्थों के संग से विरत हो, विरत हो, प्रपंच को त्याग त्याग! इस आशय का तीर्थंकर भगवान् का उपदेश सुन कर कार्तिक सेठ को बोध प्राप्त हो गया। उसने जगत् के प्रपंच से छुटकारा पाने का निश्चय कर लिया। भगवान् को नमस्कार करके वह घर आया और अपने ज्येष्ठ पुत्र को बुलाकर बोला— बेटा, यह दुकानें, मकान और कुटुम्ब-परिवार तुम सँभालो। अब तक परिवार का उत्तरदायित्व मेरे सिर पर रहा। अब तक का जीवन मैं ने परिवार को दिया, किन्तु अब मैं अपनी आत्मा के कल्याण के लिए प्रयत्न करूँगा। आखिर परलोक

जाना होगा। अब तक जो कमाई की है, वह तो यहीं रहने वाली है; उसका क्षुद्रतम अंश भी साथ नहीं जायगा। और कोरे जाने से काम नहीं चलेगा। कुछ तो साथ ले जाना चाहिए। अतएव अब मैं साथ ले जाने योग्य कमाई में लगूँगा।

तुम मेरे ज्येष्ठ पुत्र हो। संसार में पुत्र पाकर मनुष्य कृतार्थ हो जाता है। पुत्र के लिए लोग लालायित रहते हैं। जिसके पुत्र नहीं होता वह अपने आपको भाग्यहीन समझता है। उसका घर सूना समझा जाता है। नीतिकार भी यही कहते हैं—

अपुत्रस्य गृहं शून्यम्।

अर्थात्—निपूते का घर सुनसान है।

यही कारण है कि पुत्र का जन्म होने पर हर्ष और उत्सव मनाया जाता है। पुत्र-प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार के प्रयत्न किये जाते हैं। भैरों भवानी और न जाने किन-किन देवताओं के आगे घुटने टेके जाते हैं और मस्तक रगड़ा जाता है!

लेकिन सोचना चाहिए कि पुत्र का इतना महत्त्व क्यों है? पुत्र पिता के सर्वस्व का अधिकारी बन जाता है, फिर भी पिता क्यों पुत्र को चाहता है? इस प्रश्न पर थोड़े ही लोग विचार करते होंगे। बात यह है; कि पुत्र के समर्थ होने पर पिता निश्चिन्त होकर आत्मकल्याण ने लिए परलोक की साधना कर सकता है। अपना सम्पूर्ण भार पुत्र के कंधों पर रख कर वह निराकुल हो जाता है। फिर उसे कुटुम्ब-परिवार की चिन्ता नहीं रहती। अगर पुत्र न हो तो उसका चित्त चिन्ता-हीन होकर धर्मसाधना में लगना कठिन है।

इस दृष्टि से पुत्र की सार्थकता इसी बात में है उसकी सहायता से पिता आत्मकल्याण में संलग्न हो सके। जो पिता, पुत्र पाकर भी आत्मकल्याण की साधना नहीं करता, वह पुत्र होने से क्या लाभ उठाता है? कुछ भी नहीं। उसका पुत्र पाना निरर्थक ही है।

कार्तिक सेठ कहता है-हे तनय! मैंने पुण्ययोग से तुम्हारे जैसा सुयोग्य पुत्र पाया है। मगर तुम्हारा पाना मेरे लिए अभी तक सार्थक नहीं हुआ। सार्थक तभी होगा जब तुम मेरे सांसारिक उत्तरदायित्व को ग्रहण कर लोगे और मुझे इस प्रपंच से मुक्त कर दोगे। अब वह समय आ गया है। मैं पुत्र--प्राप्ति को सफल बनाना चाहता हूँ। मेरा विचार अब पारिवारिक जिम्मेदारियों को त्याग कर मुनि--जीवन अंगीकार करने का है। पुत्र, तुम मेरी सहायता करो।

सुयोग्य पिता का पुत्र भी योग्य ही होता है। पिता की इच्छा जान कर उसने कहा—पिताजी, मुझ पर आपका असीम उपकार है। आपने मुझे जीवन दिया है, संस्कार दिये हैं और विशाल सम्पत्ति भी दी है। मैं किसी भी उपाय से आपके उपकारों से उऋण नहीं हो सकता। कुछ दिन अधिक आपकी सेवा करने का अवसर मुझे मिलता तो मैं अपना अहोभाग्य समझता; परन्तु आप एक महान् कर्त्तव्य के लिए तैयार हो रहे हैं। उसमें बाधक होना मेरे लिए उचित नहीं है। अतएव जैसी आपकी इच्छा हो, वह कीजिए। मुझे जो आदेश देंगे, प्राणपन से उसे पूर्ण करने का प्रयत्न करूंगा।

सेठ ने कहा--बहुत ठीक, बेटा! मैं तुम से यही आशा रखता था। अब मैं निवृत्त होकर साधनामय जीवन व्यतीत

करूँगा। जीवन का क्या भरोसा है ? कब क्या होगा, कोई नहीं कह सकता। इसलिए अब मुझे निवृत्त हो ही जाना चाहिए।

पुत्र बोला--तो मेरा मार्ग प्रदर्शन करते जाइए।

सेठ ने गम्भीरता पूर्वक कहा--मैंने समय-समय पर तुम्हें जो शिक्षाएँ दी हैं, उन्हें याद रखना। इस भौतिक संपत्ति की अपेक्षा उन शिक्षाओं का मूल्य बहुत अधिक है। नैतिकता और प्रामाणिकता के साथ जीवन व्यवहार चलाओगे तो कभी पश्चात्ताप करने का अवसर नहीं आएगा। कभी तुम्हें ऐसा प्रतीत होगा कि अनीति करने से अधिक आर्थिक लाभ हो रहा है; किन्तु उस समय मेरी शिक्षाओं को याद करके प्रलोभन से दूर रहना। बेईमानी से कदाचित् तात्कालिक लाभ होने की आशा हो और लाभ हो भी जाय, तो परिणाम में वह हानिकर ही है। अतएव न्याय से ही धन उपार्जन करना, कभी गलत राह पर मत चलना।

कार्त्तिक सेठ फिर बोले--और देखो पुत्र, तुम मेरी सम्पत्ति के साथ ही साथ मेरी सस्कृति के भी अधिकारी हो। मेरे गृहस्थधर्म के भी उत्तराधिकारी हो। परिवार की प्रतिष्ठा को बढ़ाना। कभी कोई काम ऐसा न करना, जिससे कुल की निर्मल कीर्त्ति में कलक की कालिमा लगने की संभावना हो। परिवार क छोटे-बड़े सभी सदस्यों को समान रूप से प्यार करना। विचार विवेक के साथ चलना। बस, अधिक कुछ कहना नहीं है। संक्षेप में यही कहना है कि तुम एक धर्मनिष्ठ, नीतिष्ठ और कर्त्तव्यपरायण गृहस्थ बनना, जिससे तुम्हारी भी कीर्त्ति बढ़े और पूर्वजों की भी प्रतिष्ठा बढ़े !

अपने ज्येष्ठ पुत्र से इस प्रकार वार्त्तालाप करके कार्तिक सेठ ने अपने १००८ गुमाश्तों को बुलाया। उन सब का यथोचित सत्कार करके कहा—मैं ने अब सब प्रकार की गार्हस्थिक जिम्मेवारियों का परित्याग कर दिया है। मेरा सारा उत्तरदायित्व अब मेरे ज्येष्ठ पुत्र है। इस कारण तुम लोग अब तक जैसे मुझे अपना स्वामी मानते आये हो, अब मेरे ज्येष्ठ पुत्र को अपना स्वामी मानना। जैसे मेरे प्रति वफादार रहे हो, वैसे ही इसके प्रति वफादार रहना।

सेठ की बात सुनकर गुमाश्ता लोगों को बड़ी उदासीनता हुई। भारत में वह युग बड़ा ही श्रेष्ठ था। उस समय स्वामी और सेवक के संबंध अत्यन्त रसमय, मधुर एवं प्रीतिमय थे। सेवक स्वामी को अपना उपकारक समझता था और स्वामी सेवक को अपना सहायक मानता था। दोनों का एक दूसरे पर आत्मीयता का भाव था। आज का युग होता तो सेठ की बात सुनकर गुमाश्ता प्रसन्न होते। सोचते—'बूढ़ा घाघ साधु बनने जा रहा है तो जाने दो! इसके आगे अपनी कुछ भी नहीं चलती थी! अब नौसिखिए छोकरे को उल्लू बना कर अपना मतलब साध सकेंगे।' पर वह युग ऐसा नहीं था। गुमाश्ता स्वामी के हित को अपना हित और अहित को अपना अहित समझते थे। अतएव कार्तिक सेठ की बात से गुमाश्ता सोच विचार में पड़ गए। उन्होंने निश्चय करके कहा—सेठजी! हमने अपने जीवन में एक ही सेठ बनाया है। हम दूसरा सेठ नहीं बनाना चाहते। अतएव हम भी आपके साथ दीक्षा ग्रहण करेंगे। आप गुरु और हम चेले बनेंगे।

यही हुआ। स्वामी के साथ उसके सेवक अर्थात् मुनीम भी साधु हो गए। ऊँची श्रेणी की तपस्या करके

कार्तिक सेठ प्रथम देवलोक के इन्द्र के रूप में उत्पन्न हुआ।

वह सौधर्मेन्द्र समझता है कि धर्म ने ही हमें एक भवावतारी बनाया है। अतः वह स्वर्ग का आमोद-प्रमोद त्याग कर मुनिसुव्रत स्वामी की सेवा में उपस्थित होता है। जब मुनिसुव्रत स्वामी मोक्ष पधार गये तो इक्कीसवें, बाईसवें तेईसवें और चौबीसवें तीर्थंकर की सेवा उन्होंने की। वह क्या समझ कर आते हैं?

जो बीते धर्म में वही शुभ घड़ी है,
बिना धर्म के वह घड़ी बेघड़ी है। टेर॥

स्वर्ग के देव और देवेन्द्र, जिन्हें एक मिनिट की फुर्सत नहीं है, भगवान् के समवसरण में आते हैं। यह समझकर आते हैं कि हमारा जितना समय भगवान् की उपासना में व्यतीत हो, उतना ही सार्थक है। वही घड़ी शुभ है जो भगवान् की सेवा में रह कर व्यतीत की जाय!

भाइयो! आज भगवान् नहीं है, किन्तु भगवान् के संदेशवाहक तो हैं। क्या आपकी भावना ऐसी रहती है कि उनकी पर्युपासना करके अपना समय साथक बनाएँ? अरे, वही समय सफल है जो धर्म की आराधना में लगाया जाता है! वही समय दर्ज किया जा रहा है!

एक आदमी भूला-भटका जंगल में चला गया। मार्ग न मिलने के कारण इधर-उधर भटकता रहा। भटकते-भटकते उसे एक जगह बंगला दिखाई दिया। वह उसमें घुस गया। एक कमरे में जाकर देखता है कि एक आदमी कुर्सी पर बैठा है और रजिस्टर में कुछ लिख रहा है। यह आदमी भी उसके

पास जाकर एक कुर्सी पर बैठ गया। लिखने वाले ने लिखना बन्द किया और आने वाले से पूछा-तुम कौन हो? आने वाले ने उत्तर दिया-पहले आप तो बतलाइए कि आप कौन हैं और इस एकान्त में बैठ कर क्या लिख रहे हैं? लिखने वाले ने कहा-मैं तो दुनिया के अच्छे-बुरे कर्त्तव्यों को दर्ज करता रहता हूँ! सारी दुनिया का खाता मैं लिखता हूँ!

आगन्तुक—तो आपने मेरा भी खाता लिख रक्खा होगा?

लेखक—हाँ सभी का लिखता हूँ। जो तुमने किया है वह सब लिखा है और तुम्हारे लिए जो तजवीज़ की गई है, वह भी लिखी है!

आगन्तुक—मेरे लिए क्या तजवीज़ की है?

तब लेखक ने उसका खाता खोल कर बतलाया कि तुम्हारे लिए तो नरक-कुन्ड की व्यवस्था की गई है!

आगन्तुक ने चिन्तित होकर पूछा-क्यों, मैंने ऐसा क्या किया है?

लेखक ने पन्ना पलट कर कहा--तुमने इतनी वार झूठ बोला, चोरी की, परस्त्री की तरफ खोटी दृष्टि डाली, सत्संग में चलने के लिए कहने वाले से झगड़े, भग घोट-घोट कर पी गये, शराब पी, गांजा पिया, दूसरों का मांस खाया, अंडे चूसे ऐसे-ऐसे कुकर्म तुमने किये हैं। इस कारण तुम्हारे लिए नरक-कुंड तैयार है!

यह सब सुन कर वह आदमी सोच-विचार में पड़ गया। आखिर उसने सोचा-अब जो दिन शेष रह गये हैं, उनमें धर्म का आचरण करूँ तो? उसने लेखक से यही प्रश्न किया।

लेखक ने बतलाया- हाँ, धर्माचरण करो तो दूसरी तज-वीज़ हो सकती है।

वह आदमी अपने घर लौट गया। उसने खैरात करना शुरु किया और अपनी बिगड़ी हुई आदतें सुधार लीं। वह महीने में छह उपवास और पौषध करने लगा। इस तरह करते--करते छह वर्ष बीत गये। तब उसके मन में आया कि चल कर पूछना चाहिए कि अब मेरे लिए क्या व्यवस्था है? वही नरककुंड है या कुछ रद्दोबदल हुआ है?

इस बार जैसे ही वह मनुष्य उस बंगले में प्रविष्ट हुआ, लेखक उठ खड़ा हुआ और आदर के साथ उसे कुर्सी पर बिठ-लाया। तत्पश्चात् उसने पूछा-कहिए, अब मेरे लिए क्या व्यवस्था है?

लेखक ने कहा--अब आपका नाम दूसरे रजिस्टर में लिख लिया गया है। पहले नरक की तजवीज़ लिखी गई थी। उसके अन्दर घिस-घिस कर अब दूसरे देवलोक की तजवीज़ लिखी गई है।

यह सुन कर उसका चित्त अत्यन्त आह्लादित हुआ। वह लौट कर आया तो दुगुने उत्साह के साथ धर्म की आरा-धना करने लगा।

भाइयो! यह कोई घटना नहीं, रूपक है। इसका अभि-प्राय यह है कि तुम जो भी कार्य करते हो, वह तुम्हारे भविष्य के निर्माण में सहायक होता है। दूसरों की नज़र बचाकर, लुक-छिपकर लोग पापकर्म करते हैं, और समझते हैं कि हमें किसी ने देख नहीं पाया! मगर दूसरे लोग देखें या न देखें,

जिसे तुम्हारी तक़दीर का फैसला करना है, वह तो देख ही लेता है। उससे कुछ छिप नहीं सकता। इसी कारण भगवान् ने फर्माया है:—

"एगओ वा परिसागओ वा, सुत्ते वा जागरमाणे वा"

अर्थात्—न अकेले में पापकर्म करे; न समूह में। न सोते पापकर्म करे, न जागते! प्रत्येक अवस्था में पापकर्म का परित्याग करने वाला ही सत्पुरुष कहलाता है!

हे भव्य, तू भ्रम में मत रह। पल-पल का लेखा रहता है। तेरे मन में जो विचार उत्पन्न होते हैं, उनका भी रिकार्ड रहता है। वह भी छिपे नहीं रहते तो तेरे एकान्त में किये हुए काम कैसे छिपे रह सकते हैं? और तू गफ़लत की नींद में न सो। इधर तू गफ़लत की नींद में सो रहा है और उधर सुन्दर से सुन्दर क्षण वृथा जा रहे हैं! तू मानता है कि मेरे बड़े-बड़े महल खड़े हैं, मेरे पास घोड़े हैं, हाथी हैं, मेरी पत्नी है, मेरे पुत्र हैं, भाई हैं, सजातीय और सगोत्रीय हैं, मेरे मुनीम हैं, मेरे सेवक हैं, मेरे यहाँ गायें, भैंसें हैं, परन्तु तेरी इस कल्पना में कहाँ तक सचाई है? कभी तू ने विचार भी किया है? तेल बीता और बत्ती बुझ गई। प्रकाश जहाँ दिखाई दे रहा था, वहाँ अंधकार ही अंधकार दिखाई देने लगता है! इसी प्रकार उम्र खत्म हुई कि सारा खेल खत्म हुआ। आँखें मिचीं कि अंधकार ही अंधकार है। फिर न महल, न मकान, न घोड़े, न हाथी, न पत्नी, न पुत्र, न भाई न कुटुम्बी। कोई भी दृष्टिगोचर न होगा।

बोलो, ऐसा दिन आने वाला है कि नहीं?

'जरूर आएगा, महाराज !'

जरूर आएगा तो फिर 'मैं' और 'मेरे' के चक्कर से निकलने की कब सोचोगे ? क्या वह दिन पहले से सूचना देकर आएगा ?

'नहीं !'

नहीं आएगा ! सूचना देकर नहीं आएगा। वह दिन आज का दिन भी हो सकता है ! अभी-अभी अंधकार फैल सकता है। तो भाई, फिर क्या सोच समझ कर निश्चिन्त बैठे हो ? बुद्धिमान् पुरुष कौन है ? घर में आग लगने के पश्चात् कुआ खोदने वाला अथवा आग लगने की संभावना से पहले ही प्रबन्ध कर लेने वाला ? भगवान् कहते हैं—

परिजूरइ ते शरीरयं, केसा पंडुरया हवन्ति ते ।
से सव्वबले य हायई, समयं गोयम ! मा पमायए ॥

हे गौतम ! तू एक समय भी प्रमाद में व्यतीत मत कर। क्षण-क्षण में तेरा शरीर जीर्ण-शीर्ण हो रहा है, तेरे काले बाल धवल हो रहे हैं और तेरी समस्त इन्द्रियों की शक्ति क्षीण होती जा रही है !

भाइयो ! तुम समझते हो कि अभी क्या जल्दी पड़ी है ? धीरे-धीरे धर्म कर लेंगे। पहले संसार के सुख भोग लें, फिर धर्म कर लेंगे। किन्तु याद रखना, यह विचार तुम्हारे लिए बड़ा घातक है। ऐसा विचार तो वही कर सकता है जिसे मृत्यु की ओर से आश्वासन मिल गया हो कि जाओ, तुम नहीं मरोगे और इतने दिनों तक नहीं मरोगे ! मगर तुम तो कल की भी नहीं जानते !

जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं, जस्स वऽत्थि पलायणं।
जो जाणे न मरिस्सामि, सो हु कंखे सुए सिया ॥

मौत के साथ जिसकी मित्रता हो, जो मौत का हमला होने पर भाग कर बच सकता हो अथवा जिसे विश्वास हो कि मेरी मृत्यु होने वाली ही नहीं है, वह सोच सकता है कि आज नहीं, कल कर लूँगा! मगर मौत जिसके मस्तक पर मँडरा रही है, मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ है, काल की विकराल दाढ़ों में समाया हुआ है, वह कैसे सोच सकता है कि मैं आज नहीं कल करूँगा!

घर में आग लगने पर बुद्धिमान् पुरुष पहले मूल्यवान् माल बाहर निकालता है, गूदड़े और चिथड़े नहीं निकालता। जो पहले चिथड़े निकालने की कोशिश करता है, वह मूर्ख समझा जाता है। इसी प्रकार बुद्धिमान् पुरुष वही गिना जाता है जो मृत्युग्रस्त जीवन में धर्म का आचरण कर लेता है और अपने भविष्य को सुखमय बनाने की सामग्री जुटा लेता है। जो खानपान और ऐश–आराम में ही लगा रहता है, उसका भविष्य अन्धकारमय है। वह जीवन में कुछ नहीं कर सकेगा। गजसुकुमार ने आत्मकल्याण में क्या विलम्ब किया था? और जम्बूकुमार ने क्या किया था? भगवान् का उपदेश सुनकर उन्होंने कहा–प्रभो! मैं माता–पिता से आज्ञा लेकर आता हूँ और निर्ग्रन्थ दीक्षा ग्रहण करूँगा। भगवान् ने कहा–'जहासुहं देवाणुप्पिया! मा पडिबंधं करेह!' अर्थात् हे देवों के प्यारे! जिसमें सुख उपजे वही करो। उसमें विलम्ब न करो।

जम्बूकुमार आज्ञा लेने को घर जाने लगे तो अचानक

एक द्वार टूटकर गिर पड़ा और वे बाल-बाल बचे ! उसी समय उन्होंने सोचा कदाचित् द्वार मेरे मस्तक पर गिर पड़ता तो मैं अविरत अवस्था में ही मृत्यु का ग्रास बन जाता ! और यह सोचकर वे वहाँ से लौट कर भगवान् के समीप गए। उन्होंने श्रावक के व्रत अङ्गीकार किये और फिर घर आकर, माता-पिता से आज्ञा लेकर तथा उसी दिन विवाहित पत्नियों को प्रतिबोध देकर साधु बन गये ! अन्त में उन्होंने मृत्यु पर विजय प्राप्त की !

भाइयो ! ऐसे वीर मृत्युविजेता बनते हैं ! जो वासनाओं के गुलाम है, विकारों से ग्रस्त हैं, भोगो की कीचड़ में फँसे हुए हैं, उनसे मृत्यु को जीतने की आशा नहीं की जा सकती !

मैं अनेक बार कह चुका हूँ और फिर कहता हूँ कि यह अपूर्व अवसर है। ऐसा स्वर्ण-अवसर बड़े पुण्य के उदय से ही मिलता है । मनुष्यजन्म का लाभ कोई साधारण लाभ नहीं है। यह देवदुर्लभ जन्म है । देवगण भी अभिलाषा करते हैं कि हम मनुष्यभव को प्राप्त कर धर्मध्यान करें ! दान, शील, तप और भावना का सेवन करके आत्मा का कल्याण करें। उधर सागरोपम की आयु वाले देवता मनुष्य जन्म की कामना करते हैं और इधर आप हैं, जिन्हें मनुष्यजन्म मिल गया है तो विषयवासना की गन्दगी में ही अपना कल्याण समझते है। याद रखना, यदि यों ही कोरे चले गये और नरक के अतिथि बन गये तो नानी याद आ जायगी ! निगोद में जन्म लेना पड़ा तो एक श्वास में अठारह बार मौत की यातना भोगनी पड़ेगी। पृथ्वीकाय आदि में से

किसी स्थावर योनि में जनमे तो फिर ऐसा अवसर नहीं मिलने वाला है।

भाइयो! तुमने मुझे अपना गुरु बनाया है, अतएव मेरे ऊपर जिम्मेवरी आ गई है कि मैं तुम्हें चेतावनी दूँ, तुम्हारे हित का पथ प्रदर्शित करूँ और तुम्हारे भ्रम एवं प्रमाद को दूर करने का प्रयत्न करूँ! अगर मैं ऐसा न करूँ तो अपने कर्त्तव्य से च्युत हो जाऊँ! यही कारण है कि तुम मानो या न मानो, मैं तुम्हें सही राह दिखलाता हूँ। यह वही राह है जो तीर्थंकरों ने बनाई और बताई है। यह वही मार्ग है जिस पर अनन्त आत्माएँ चल चुकी हैं और अपने लक्ष्य पर पहुँची हैं। यही मृत्यु को मारने का मार्ग है। धर्म के अतिरिक्त अजर-अमर होने का अन्य कोई साधन नहीं है। अतएव अगर आपको मृत्यु अप्रिय लगती है, आप मृत्यु से सदा के लिए बचना चाहते हैं तो ज्ञानी जनों के पथ पर चलो। भगवान् की शरण गहो और किसी भी प्राणी के मरण के कारण न बनो। भगवान् के आदेश को अपने जीवन में उतारने वाले ही मृत्यु को जीतते हैं। मेरी यही अन्तःकामना है कि आप सब को सद्‌बुद्धि प्राप्त हो और आप मृत्युजयी बन कर अनन्त आनन्द के भागी हों।

६-९-५२ }
पाली }

## २

# देव-गुरु-धर्म
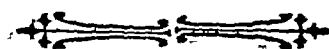
स्तुति:—

मन्ये वरं हरिहरादय एव दृष्टा-
दृष्टेषु येषु हृदयं त्वयि तोषमेति ।
किं वीक्षितेन भवता भुवि येन नान्यः,
कश्चिन्मनो हरति नाथ ! भवान्तरेऽपि ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं कि—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन् ! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय ? प्रभो ! कहाँ तक आपके गुण गाये जाएँ ?

भाइयो ! जब तक मनुष्य सत्य की शरण में नहीं पहुँचता, सत्य की उपासना और आराधना नहीं करता, सत्य को श्रेयस्कर नहीं समझता और सम्पूर्ण भाव से सत्य के चरणों

में समर्पित नहीं हो जाता, तबतक वह असत्य के निविड़ अंधकार में भटकता और ठोकरें खाता रहता है। उसे दिव्य ज्योति के दर्शन नहीं होते। वह अपने कल्याण का पथ नहीं देख सकता है। उसकी बुद्धि प्रथम तो किसी प्रकार का निर्णय नहीं कर सकती और यदि निर्णय करती भी है तो विपरीत निर्णय करती है। जैसे निर्णय न कर सकना बुद्धि का दोष है, उसी प्रकार उलटा निर्णय करना भी दोष है। बल्कि विपरीत निर्णय करना और भी बड़ा खतरनाक है। संशय मनुष्य की कर्तृत्वशक्ति को विनष्ट कर देता है और विपर्यास उस शक्ति को गलत मार्ग पर ले जाता है। बुराई दोनों में है। इसी करण मिथ्यात्व के भेदों में संशय की गणना की गई है तो विपरीत की भी गणना की गई है।

सत्य क्या है और असत्य क्या है ? यह एक बड़ा ही जटिल प्रश्न है। विश्व के समस्त दर्शनशास्त्र इसी प्रश्न को सुलझाने के लिए उत्पन्न हुए हैं। सभी का दावा है कि वे सत्य संदेश लकर आये हैं। मगर उनके संदेश एक दूसरे से विपरीत हैं और इस कारण सत्य और भी उलझ गया है। साधारण व्यक्ति के लिए सत्य-असत्य का बुद्धिपूर्वक निर्णय करना सहज नहीं रहा है। कहा भी है:—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना—
नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां,
महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥

अर्थात्—तर्क अस्थिर है--बिना पेंदी का लोटा है, शास्त्र अलग-अलग हैं और वे सब आपस में विरुद्ध बातें बतलाते हैं। आचार्यों की शरण लें तो किसकी लें और किस की न ले ? आचार्य भी अनेक हैं और वे परस्पर विरोधी मत प्रकट करते हैं ! किसके वचन पर विश्वास करें और किस पर अविश्वास करें ? धर्म का तत्त्व अन्धकार में छिप गया है। ऐसी स्थिति में जिस मार्ग पर बहुत लोग या महाजन चलते हैं, उसी पर चलना चाहिए।

यह कथन ऐसे व्यक्ति का है जो डूब गया है, सत्य का निर्णय करने में असमर्थ हो चुका है और जिसकी बुद्धि थक गई है।

मगर मैं सोचता हूँ कि सत्य यदि वास्तव में अज्ञेय होता उसको समझने की शक्ति आत्मा में न होती, तो सत्य की महिमा का कुछ भी अर्थ न रहता ! मगर शास्त्रों में, फिर चाहे वह जैनशास्त्र हों अथवा जैनेतर शास्त्र हों, सत्य की मुक्त कंठ से प्रशंसा की गई है। कहा है—

नास्ति सत्यसमो धर्मो, न सत्याद्विद्यते परम् ।
न हि तीव्रतरं किञ्चिदनृतादिह विद्यते ॥

यहाँ बतलाया गया है कि सत्य से बढ़कर तो क्या, सत्य के समान भी और कोई धर्म नहीं है और असत्य से बढ़ कर कोई पाप नहीं है।

सत्यं स्वर्गस्य सोपानं, पारावारस्य नौरिव ।
न पावनतमं किञ्चित्, सत्यादभ्यगमं क्वचित् ॥

जैसे समुद्र को पार करने का उपाय जहाज है, उसी प्रकार स्वर्ग प्राप्त करने का साधन सत्य है। सत्य से अधिक पावन और कोई दूसरी वस्तु समझ में नहीं आई।

प्रश्न व्याकरण सूत्र में अत्यन्त प्रभावशाली शब्दों में सत्य की महिमा प्रदर्शित की गई है। थोड़ा-सा नमूना लीजिए—

"तं ( सच्चं ) लोगम्मि सारभूयं, गंभीरतरं महासमुद्दाओ, थिरतरगं मेरुपव्वयाओ, सोमतरगं चंदमंडलाओ, दित्ततरं सूरमंडलाओ, विमलतरं सरयनहयलाओ, सुरभितरं गंधमादणाओ।"

अर्थात्—सत्य लोक में सारभूत है। महासमुद्र से भी अधिक गम्भीर, मेरुपर्वत से भी अधिक स्थिर, चन्द्रमण्डल से भी अधिक सौम्य, सूर्यमण्डल से भी अधिक देदीप्यमान, शारत्कालीन आकाश से भी अधिक निर्मल और गंधमादन पर्वत से भी अधिक सौरभ सम्पन्न है।

इसी प्रश्न व्याकरण में कहा है कि सत्य अनेक आश्चर्यों को उत्पन्न करता है, सत्य के प्रभाव से मनुष्य महासमुद्र में पड़ कर भी सकुशल पार पहुँच जाता है। अग्नि की ज्वालाओं में से भी बिना जला निकल आता है। सत्य की ऐसी महिमा है कि सत्यवादी अगर तपे हुए तांबे लोहे और शीशे को भी हाथ में ले ले तो उसका हाथ नहीं जलता, आदि।

तो जिस सत्य का ऐसा अपूर्व और अद्भुत महात्म्य है, वह क्या अज्ञेय हो सकता है ? नहीं। वस्तुतः सत्य को समझना और पाना कठिन भले हो, असंभव नहीं है।

## जिन खोजा तिन पाइया, गहरे पानी पैठ !

सत्य के सच्चे अन्वेषक सत्य की उपलब्धि करके ही दम लेते हैं। जब उन्हें सत्य की उपलब्धि हो जाती है, तब उनका अज्ञान और विपरीत ज्ञान हट जाता है। उनकी अन्तरात्मा एक अलौकिक आलोक से उद्भासित हो जाती है। अपूर्व ज्योति उनके सामने चमकने लगती है। वे भ्रम, अज्ञान और मूढ़ता के शिकार नहीं होते।

किन्तु जब तक मनुष्य सत्य की प्राप्ति नहीं कर पाता तब तक वह अनेक प्रकार की विडम्बनाएँ किया करता है। न जाने किन-किन देवी-देवताओं के आगे मस्तक रगड़ता और घुटने टेकता फिरता है! वह किसी भी पाषाण पर तेल और सिन्दुर मल कर उसमें देवत्व का आरोप कर लेता है और फिर उसके प्रसाद का भिखारी बन कर उसके सामने गिड़-गिड़ाता है! इस प्रकार वह स्वयं ही देवी-देवताओं का निर्माण करता है और स्वयं ही उन्हें पूजता है!

इस प्रकार के कृत्रिम देवी-देवताओं की सृष्टि इतनी विराट हो गई है कि उनकी गिनती करना भी कठिन है! इनकी पूजा के प्रकार भी अनगिनती हैं। किसी के आगे भैंसों का बलिदान किया जाता है, किसी के सामने बकरों की गर्दन पर छुरी फेरी जाती है, किसी-किसी को मनुष्य की बलि देकर प्रसन्न किया जाता है! सारांश यह है कि सत्य की ज्योति के अभाव में मनुष्य नाना प्रकार के मूढ़तापूर्ण कृत्य करता है। यह असत्य का ही प्रताप है कि आत्मा स्वभाव से निरंजन निराकार होकर भी अनादि काल से संसार में भटक रहा

है और नाना प्रकार की दारुण वेदनाओं का पात्र बन रहा है ! भला विचार तो कीजिए कि कितनी दुर्दशा हुई और हो रही है इस आत्मा की ? इसे सत्य का प्रकाश मिला होता तो यह दुरवस्था कभी की समाप्त हो गई होती !

असत्य का ही एक रूप मिथ्यात्व है। इसकी बदौलत आत्मा की समस्त शक्तियों में जंग लग गई है। समग्र विचार विपरीत बन गये हैं। मनुष्य कुदेव को सुदेव, कुगुरु को सुगुरु और कुधर्म को सद्धर्म समझ रहा है तथा सच्चे देव गुरु धर्म को मिथ्या मान कर धोखा खा रहा है।

भाइयो ! छोटे-छोटे बच्चे और बच्चियाँ दुलहा-दुलहिन का खेल खेलते हैं। जब तक उनमें विवेक का उदय नहीं होता या समझ नहीं आती तब तक ही वे यह खेल खेला करते हैं। समझदार होने पर जब उनका विवाह हो जाता है और लड़की समझने लगती है कि असली दूल्हा तो मेरा पति है, तब वह दुलहा-दुलहिन का खेल नहीं खेलती। उन्हें ताख में रख देती है। इसी प्रकार मनुष्य को जब सत्य की प्राप्ति हो जाती है तब वह असत्य को पसन्द नहीं करता। असत्य उसे स्वभाव से ही अरुचिकर हो जाता है। इस अवस्था में अगर कोई बलात् असत्य के सामने झुकने को बाधित करता है तो वह सत्य का प्रेमी अपने प्राणों का उत्सर्ग कर देना पसंद करता है, किन्तु असत्य के आगे नतमस्तक नहीं होता। हमारे शास्त्रों में इस बात की पुष्टि करने वाले अनेक प्रमाण और उदाहरण मौजूद हैं।

कामदेव श्रावक का ज्वलन्त उदाहरण क्या तथ्य प्रकट करता है ? असत्य को अंगीकार करने के लिए देवता ने भयानक से भयानक धमकियाँ दीं, बड़ी से बड़ी हानि पहुँचाने की

चेष्टा की, किन्तु किसी भी धमकी और हानि से वह सत्य से नहीं डिगा। अरणक श्रावक का जीवन भी साधारण नहीं है। उसका जहाज़ समुद्र में तैर रहा था। देवता आ कर उसकी परीक्षा करता है। कहता है–हे अरणक, तू धर्म का परित्याग कर दे; सत्य को त्याग कर असत्य की शरण स्वीकार कर। ऐसा न करेगा तो याद रखना, अपने प्राणों से हाथ धो बैठेगा! तेरे जहाज को सागर की इस अगाध जलराशि में डुबा दूंगा। तू भी मरेगा और तेरे साथी दूसरे यात्री भी प्राणों से हाथ धो बैठेंगे! मगर अरणक क्या सत्य से विचलित हुआ? उसके एक रोम में भी प्राणों का मोह उत्पन्न नहीं हुआ। उसने सोचा तो यही सोचा कि जीवन सत्य में है, असत्य में नहीं। सत्य पर दृढ़ रहने से अगर प्राण जाते हैं तो जाएँ। आखिर तो सत्य ही मनुष्य को अमर बनाने वाला है। असत्य का आश्रय लेकर की हुई प्राणरक्षा तो भ्रम मात्र है–मूढ़ता है। असत्य ने तो अनन्त बार इस जीव की हत्या की है-अनादि काल से जो जन्म–मरण का सिलसिला चल रहा है वह असत्य का ही प्रताप है। असत्य के लिए अनन्तानन्त बार मरने पर भी कोई सुफल नहीं हुआ। अगर एक बार सत्य के लिए मरूँगा तो सदा के लिए अमर हो जाऊँगा!

इस प्रकार सोच कर अरणक श्रावक अपने सत्य पर स्थिर रहा तो उसका बाल भी बांका न हुआ। उसकी प्राणरक्षा भी हुई और धर्म रक्षा भी हुई। उसके साथी भी प्रभावित हुए।

सारांश यह है कि सत्य में ऐसी अद्भुत आकर्षण शक्ति है कि उसका साक्षात्कार होने जाने पर मनुष्य का मन असत्य की ओर झुकता ही नहीं है।

जैसा कि अभी कहा जा चुका है, सत्य की प्राप्ति होना असंभव नहीं है; फिर भी कठिन अवश्य है। सच्ची लगन, अपरिसीम उत्कंठा और सरल मनोवृत्ति हो तो ही सत्य की प्राप्ति होती है। ये बातें न हों तो असत्य के अंधकार में ही भटकना होता है। विवेकविहीन जीव झूठी बातों में ही राजी हो रहा है। उसे सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे धर्म का मिलना कठिन है। वह यही नहीं जानता कि सच्चा देव कौन है और झूठा देव कौन है? सद्गुरु कौन है और कुगुरु कौन है? समीचीन धर्म क्या है और मिथ्याधर्म क्या है? इस विवेक के अभाव में वह अपने कल्याण से वंचित रह जाता है।

जिसने तीन लोक और तीन काल के समस्त पदार्थों को हस्तामलक के समान साक्षात् जान लिया हो, जो राग, द्वेष, मोह आदि समस्त आत्मिक विकारों पर विजय प्राप्त कर चुका हो, जो मुक्तिमार्ग का उपदेशक हो, अर्थात् सर्वज्ञ, वीतराग और हितोपदेशक हो, वही सच्चा देव कहलाता है। इसके विपरीत, जो अंगना का सम्पर्क रखते हैं, शास्त्रों को धारण करते हैं और जप के लिए माला आदि रखते हैं, वे रागी, द्वेषी और मोही हैं। उनमें देवत्व नहीं हो सकता।

अहिंसा आदि पांच महाव्रतों का, पांच समितियों का, तीन गुप्तियों का और दस प्रकार के धर्मों का पालन करने वाले, सब प्रकार के सचेतन और अचेतन परिग्रह से रहित, आरम्भ के पूर्ण त्यागी मुनि ही सच्चे गुरु हैं। जो इससे विपरीत आचरण करते हैं, वे गुरु अपने शिष्यों को न मोक्ष का मार्ग बतला सकते हैं, न उस पर लगा सकते हैं।

इस प्रकार जिसमें प्राणी मात्र की दया को प्रधान स्थान हो वही धर्म है। धर्म का लक्षण है—

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो ।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो ॥

अर्थात्—अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म ही सर्वोत्कृष्ट तथा मंगलकारी धर्म है। जिस पुरुष के चित्त में इस धर्म का निरन्तर वास रहता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

वास्तव में दया धर्म का प्राण है। जहाँ दया नहीं वहाँ धर्म भी नहीं है। जिसके घट में दया होगी, वह किसी भी प्राणी के प्रति द्वेष बुद्धि नहीं रक्खेगा, किसी को कष्ट पहुंचाने का विचार नहीं करेगा। यही नहीं, वह अपने सामर्थ्य के अनुसार दूसरों की सेवा सहायता करेगा, दूसरों को सुखी बनाने की चेष्टा करेगा !

जिसके अन्तःकरण में दया की अमृतमयी तरंगें उठ रही होंगी, वह एकाएक झूठ भी नहीं बोलेगा। झूठ बोलने से सर्वप्रथम तो आत्मा की ही विराधना होती है; फिर दूसरों को भी कष्ट पहुँचता है, हानि पहुँचती है। अतएव दयालु पुरुष असत्य से बचने का ही सदा प्रयास करता है।

दयावान् चोरी भी नहीं करेगा। वह समझेगा कि जैसे मेरी वस्तु चोरी चली जाय तो मुझे दुःख और शोक होता है, उसी प्रकार दूसरों को भी दुःख होता है। परधन की चोरी करने वाले पर भी संकट आ जाते हैं और जिसकी चोरी की

जाती है, उसे भी असीम दुःख होता है। क्योंकि धन सब को प्राणों के समान प्रिय है। अनुचित उपाय से किसी का धन ले लेना उसके प्राण ले लेने के समान है।

दयावान् मनुष्य अगर पुरुष है तो परस्त्री की तरफ बुरी भावना से नहीं देखेगा और यदि दयावान् स्त्री है तो वह पर-पुरुषों की ओर विकार भरी नजरों से नहीं ताकेगी।

दयालु पुरुष धन का भी अधिक लालच नहीं करेगा। वह सोचेगा कि संसार में धन तो परिमित ही है। अगर मैं अपनी वास्तविक आवश्यकता से अधिक इकट्ठा कर लूँगा तो दूसरों को कमी पड़ जायगी। गरीबों को कष्ट उठाना पड़ेगा। मेरे पास निरर्थक पड़ा रहेगा और दूसरों के पास आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए भी नहीं रहेगा! निरर्थक पड़ा हुआ धन किस काम का? उससे कोई लाभ तो होता नहीं है; उलटी हानियाँ अनेक होती हैं। उस फालतू पड़े धन की रक्षा एवं सार-सँभाल करने की चिन्ता बनी रहती है। चोरी हो जाने का भय बना रहता है! रात-दिन व्याकुलता रहती है। आराम से नींद भी नहीं ली जा सकती! फिर भी अगर चला जाता है तो दुःख और शोक से हृदय व्याकुल और क्षुब्ध हो जाता है। कदाचित् न गया और बना रहा तो भी धनवान् को दूसरे लोगों की ईर्षा का पात्र बनना पड़ता है। धनाढ्य व्यक्ति में अहंकार भी उत्पन्न हो जाता है। अहंकार का मद उसे अंधा बना देता है। वह निर्धन मनुष्यों को, चाहे वे कितने ही ज्ञानवान्, विद्वान्, सदाचारी और सद्गुणी क्यों न हों, तुच्छ समझता है। वह धन की तराजू से ही मनुष्यता को

तोलता है ! इस प्रकार वह वास्तविक मनुष्यता को भी भूल जाता है । एक कवि ने ठीक ही कहा है किः—

लक्ष्मीः क्षमस्व वचनीयमिदं दुरुक्त-
मन्धा भवन्ति मनुजास्त्वदुपाश्रयेण ॥

अर्थात्—हे लक्ष्मी ! कटुक बात कहता हूँ, परन्तु है वह सच्ची । उसे कहने के लिए मुझे क्षमा करना ! वह यह है कि तेरी उपासना करने वाले लोग आँख रहते भी अंधे हो जाते हैं !

यह सम्पदा मनुष्य को अन्धा बनाने वाली है । धन का उपासक मनुष्यत्व और शिष्टाचार से भी गिर जाता है । ऐसे धन को छाती से चिपटाने की क्या आवश्यकता है ? यद्यपि धन के बिना जीवननिर्वाह नहीं हो सकता और परिवार का भरण-पोषण भी नहीं होता; अतएव उसकी आवश्यकता तो है, परन्तु आवश्यकता से अधिक संचय करना तो मूर्खता ही है ! इससे हानि के अतिरिक्त कुछ भी लाभ नहीं है । ऐसा विचार करके दयावान् पुरुष कभी लालच के चक्कर में नहीं पड़ता । वह अपने लाभ के लिए किसी को सता नहीं सकता ।

जिसने धर्म के स्वरूप को समझा है, जिसने दयाधर्म को उत्कृष्ट और कल्याणकारी माना है, वह कभी लालच के वशीभूत नहीं होता । वह भलीभाँति समझता है—

चक्रेश केशव हलायुध भूतितोऽपि,
सन्तोष मुक्त मनुजस्य न तृप्तिरस्ति ।
तृप्तिं विना न सुखमित्यवगम्य सम्यक्,
लोभग्रहस्य वशितो न भवन्ति धीराः ॥

अर्थात्—चक्रवर्ती, वासुदेव और बलदेव की सम्पत्ति पा लेने पर भी, सन्तोषहीन मनुष्य कभी तृप्त नहीं हो सकता और तृप्ति के बिना सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। ऐसा जान कर धीर पुरुष कभी लोभ रूपी ग्रह के अधीन नहीं होते हैं।

जिसके पास लाखों और करोड़ों की सम्पत्ति है, वह भी अगर असन्तुष्ट है, हाय-हाय किया करता है, रात-दिन सम्पत्ति बढ़ाने में ही व्यस्त रहता है और धनोपार्जन की ही चिन्ता में लीन रहता है और सुख चैन से धर्म की घड़ी भर भी आराधना नहीं करता, तो उसका धन किस प्रयोजन के लिए है? क्या वह धन उसे सुख पहुँचा सकता है? ऐसे धन के होने और न होने में क्या अन्तर है? अगर कोई अन्तर है तो यही कि उसका लाभ उसे नरक का अतिथि बना देता है! कहा भी है—

लोभः प्रतिष्ठा पापस्य, प्रसूतिर्लोभ एव च।
द्वेष क्रोधादिजनको, लोभः पापस्य कारणम्॥
आकरः सर्वदोषाणां, गुण-ग्रसन-राक्षसः।
कन्दो व्यसनवल्लीनां, लोभः सर्वार्थबाधकः॥

यह लोभ समस्त पापों का बाप है! लोभ के कारण ही समस्त पापों की उत्पत्ति होती है। यही द्वेष और क्रोध आदि का जनक है! कोई ऐसा पाप नहीं जो लोभ के कारण न हो सके!

लोभ समस्त दोषों की खान है। समस्त गुणों को ग्रस लेने वाला राक्षस है। समस्त संकटों का मूल है और सब अर्थों का बाधक है!

कठिनाई तो यह है कि लोभ का कहीं और कभी अंत नहीं आता है। ज्यों-ज्यों लाभ होता जाता है त्यों त्यों लोभ भी बढ़ता ही चला जाता है। शास्त्र में कहा है--

"जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई।"

अर्थात्--जैसे-जैसे लाभ होता है, लोभ भी बढ़ता जाता है। लाभ से लोभ की वृद्धि होती है।

एक विद्वान् ने लोभ का अच्छा चित्र खींचा है—

निःस्वो वष्टि शतं शती दशशतं, लक्षं सहस्राधिपो-
लक्षेशः क्षितिराजतां क्षितिपतिश्चक्रेशतां वाञ्छति ।

जिसके पास तनिक भी धन नहीं है ऐसा दरिद्र सौ रुपया की अभिलाषा करता है। सौ रुपयों वाला हजार चाहता है। हजार वाला लाख की इच्छा करता है। लखपति भूपति बनना चाहता है और भूपति चक्रवर्त्ती बनने का मनोरथ करता है! मतलब यह है कि तृष्णा की कोई सीमा नहीं है।

लोभ और तृष्णा के चक्कर में पड़े हुए लोग किस प्रकार निर्दय हो जाते हैं और किस प्रकार गरीबों एव विवश लोगों की विषम स्थिति से लाभ उठाते हैं, यह कौन नहीं जानता? लालच के कारण अनेक प्रतिष्ठित व्यापारियों, साहूकारों और 'महाजनों' की प्रतिष्ठा धूल मे मिल जाती है। परन्तु ऐसी दुर्दशा उन्हीं की होती है जिनके हृदय में दया नहीं होती। दयावान् पुरुष सदैव विवेक से काम लेता है।

जिसने परमकल्याणकारी दया को अपना लिया है,

उसकी दृष्टि में धन धूल के समान है। वह हिंसा आदि पापों से अपनी आत्मा की रक्षा करता है! दयावान् कभी पैसे के बदले अपनी आत्मा को नहीं बेचता। वह अच्छी तरह जानता है कि धन और धर्म का सहयोग नहीं है। अतएव वह लालच पर नहीं उतरता। अगर कोई लालच पर उतर जावे और सोचे कि मैं खूब धन इकट्ठा करूँ और बड़ा कहलाऊँ, तो उसे याद रखना चाहिए:--

मन कहे मैं धन करूँ, धन कर करूँ गुमान।
पर राम कतरनी हाथ है, राखेगा अनुमान ॥

मन तो कहता है कि मैं धन कमाकर मान करूँ किन्तु रामजी कतरनी हाथ में लेकर बैठे हैं कि जहाँ बढ़ा कि कतर डालूँगा।

याद रक्खो, जहाँ दया होगी वहीं सुख होगा। जहाँ दया नहीं वहाँ सुख भी नहीं है। देख लो, हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के बँटवारे पर झगड़े हुए तो जो जो जीव दया वाले थे, वे बच गये और जिन्होंने बहुत मांस खाया, अडे फोड़े और गायें मारीं उनको नुकसान उठाना पड़ा। वे ज्यादा पापी थे वही ज्यादा दुखी हुए। विलायतों में बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ हुईं तो पापी ही मारे गये! अंग्रेज स्वयं कहने लगे कि हमने जितने ज्यादा पाप किये उतने ही ज्यादा दुःख हमको भोगने पड़े।

भाइयो! इसीलिए मैं तुम्हें बार-बार प्रेरणा करता हूँ कि दया रक्खो। दयाधर्म के समान दुनिया में और कोई धर्म नहीं है।

एक जगह साधुजी उपदेश दे रहे थे। एक सुनार भी उपदेश सुन रहा था। महाराज ने उपदेश दिया कि मनुष्य को कम से कम तीन बातों से जरूर बचना चाहिए। प्रथम तो झूठ न बोलना। दूसरे चोरी न करना। तीसरे परस्त्री को न ताकना। सुनार को महाराज का उपदेश जँच गया। उसने सोचा-बातें तीनों ही अच्छी हैं और मुझे तीनों का पालन करना चाहिए। उसने उक्त तीनों प्रतिज्ञाएँ कर लीं।

अब वह दुकान पर बैठ कर अपना धंधा करता है तो अपनी ली हुई प्रतिज्ञाओं का बराबर ध्यान रखता है। किन्तु उसके सामने एक कठिनाई आई। दूसरे सुनार घड़ाई कम लेते और सोने चांदी में से कुछ हिस्सा चुराकर पूर्त्ति कर लेते थे। पूर्त्ति क्या कर लेते, घड़ाई से भी ज्यादा वसूल कर लेते थे। मगर प्रतिज्ञाबद्ध यह सुनार चोरी नहीं कर सकता था। अतएव उसने घड़ाई ज्यादा कर दी। परिणाम यह हुआ कि उसके पास कोई गहने घड़वाने नहीं जाता।

दुनिया सस्ती चीज़ चाहती है। स्टेशन पर सस्ती पूड़ियाँ मिलेंगी तो लोग वहीं खरीदेंगे, भले ही वे वनस्पति-घृत की हों या तेल की हो! घी जहाँ सस्ता मिलेगा वहीं लेंगे, चाहे उसमें मिलावट ही क्यों न हो!

पर सुनार अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ था। कठिनाइयाँ झेलते हुए भी उसने प्रतिज्ञाओं को तोड़ने का विचार नहीं किया। यही नहीं, एक दिन उसने अपने लड़के को भी समझा-बुझा कर उक्त तीनों प्रतिज्ञाएँ दिला दीं। लड़के ने भी प्रसन्नतापूर्वक प्रतिज्ञाएँ ग्रहण कर लीं। लड़के की माता पहले ही मर चुकी थी। अब पिता का भी देहान्त हो गया।

लड़का अनाथ हो गया, किन्तु अपनी प्रतिज्ञाओं पर दृढ़ था। सुनारी का धंधा नहीं चला तो उसने बर्तन-थाली लोटा-आदि बेचना आरम्भ किया। वह १७-१८ वर्ष का था, किन्तु उसे बुरी तरह गरीबी ने सताया और वह फटे-पुराने कपड़े पहन कर गुजारा करने लगा। उसकी हालत देखके दूसरे सुनार कहने लगे-'भाई, धर्म भले करो, मगर दुकानदारी तो दुकानदारी के तरीके से ही करनी चाहिए।' मगर लड़का पक्का था। उसने उत्तर दिया-मगर चोरी नहीं करूँगा। मनुष्य-जन्म बार-बार नहीं मिलता। मैं तो धर्म पर ही डटा रहूँगा। इस प्रकार गरीबी के दुःख देखते-देखते बहुत दिन बीत गये।

उस नगर का राजा था-नरवाहन। एक रात वह सो रहा था तो पिछली रात में उसकी नींद खुल गई। राजा ने विचार किया-मेरी रानियाँ अच्छी हैं, राजकुमार भी अच्छे हैं, भाई-बंद भी अच्छे हैं और फौज-पलटन भी अच्छी है। यह सब बातें तो ठीक हैं, परन्तु यह नहीं मालूम है कि खजाने में धन कितना है ? उसे देख लेना चाहिए।

प्रातःकाल होने पर राजा खजाना देखने गया। देखते-देखते सारा दिन बीत गया और रात्रि हो गई, पर खजाना पूरा नहीं देख सका। दो-तीन दिनों में उसने पूरा खजाना देखा। देख कर वह सोचने लगा-भंडार में बहुत द्रव्य है, अब प्रजा पर कोई नया कर नहीं लगाऊँगा और दान किया करूँगा।

दूसरे दिन से राजा प्रातःकाल उठ कर पहर दिन चढ़े तक गरीबों को दान देने लगा और बगीचों में दावतें करने लगा। खूब खाना और खूब खिलाना उसका सिद्धान्त बन गया। वह एक दिन जो वस्त्र पहनता, दूसरे दिन उन्हें दान कर

देना। नित्य नयी पोशाक बनवाता। वह सोचता—जब मैं राजा हूँ और अक्षय भंडार का स्वामी हूँ तो मूंजी क्यों बनूँ ? इस प्रकार दान--पुण्य करते--करते बहुत दिन व्यतीत हो गए। यह हाल देख कर भंडारी का पेट दुखने लगा। उसने सोचा कि राजाजी तो फैल करते हैं और खजाना खाली किये देते हैं! तब उसने एक श्लोक का चरण लिखा—

आपदर्थे धनं रक्षेत्।

अर्थात्—आपत्ति के समय के वास्ते धन की रक्षा करनी चाहिए।

राजा ने यह देखकर उसके आगे लिख दिया—

श्रीमतः कुत आपदः।

अर्थात्—श्रीमंत को आपत्ति ही नहीं आती।

भंडारी ने राजा का उत्तर पढ़ा और फिर आगे लिखा--

कदाचिच्चलिता लक्ष्मीः

अर्थात्—ऐसा भी कोई समय आ सकता है कि लक्ष्मी चलायमान हो जाय, तब क्या होगा ?

भंडारी का यह लेख देख राजा ने चौथा चरण बना कर लिख दिया—

"सञ्चिताऽपि विनश्यति।"

अर्थात्--जब लक्ष्मी कुपित हो जाएगी तो संचित की हुई भी नष्ट हो जाएगी।

इस तरह राजा ने अपनी नीति कायम रक्खी। वह नित्य नये वस्त्र धारण करता, खाना-खिलाता और बहुमूल्य

आभूषण बनवाता ! जिस सुनार से राजा आभूषण बनवाता था, वह राजा का बहुमूल्य मोती आदि माल अपने पास रख लेता और नकली मोती जड़ देता था। ऐसा करते-करते कई दिन हो गए। आखिर पाप छिपाये छिपता नहीं है। भंडा फूट गया। सुनार के घर की तलाशी हुई और माल बरामद हो गया। सरकार ने उसे देश निकाले की सजा दे दी !

राजा ने दूसरे सुनार की खोज करवाई पर कोई ईमानदार सुनार न मिला। तब राजा ने अपने दीवान से कहा--दीवानजी, मेरे शौक पर पत्थर पड़ गये ! नगर में एक भी सुनार ईमानदार नहीं है ? दीवान बोला--अन्नदाता, सब धान बाईस पंसेरी नहीं तुलते। सब वेईमान नहीं है। मैं ईमानदार सुनार खोज लाऊँगा।

दीवान ने जाँच पड़ताल की तो वही लड़का, जिसका नाम संवेगचन्द्र था, दीवान को प्रामाणिक जँचा। वह उसे राजा के सामने ले गया। राजा ने पूछा—लड़के, ईमानदारी से काम करेगा ? लड़के ने कहा--पृथ्वीनाथ, मैंने तीन प्रतिज्ञाएँ ली हैं--झूठ न बोलना, चोरी न करना, और परस्त्री को न ताकना ! आपकी इच्छा हो तो मैं आपकी सेवा करने को प्रस्तुत हूँ। राजा उसकी बात सुनकर प्रसन्न हो गया। उसने इस लड़के से आभूषण घड़वाने का काम लेना आरम्भ किया और सौ के बदले दो सौ और दो सौ जगह चार सौ मिहनताना देने लगा। लड़के की आर्थिक स्थिति एकदम ऊँची आने लगी।

दूसरे सुनारों ने देखा कि लड़को राज-सुनार हो गया है और शीघ्र ही मालदार बन जायगा ! अतएव वे उसे अपनी अपनी लड़की देने की सोचने लगे। आखिर उसकी सगाई

हो गई। विवाह का समय आया तो राजा ने सोचा--विवाह के लिए इसके पास पैसा कहाँ से आएगा ? उसने दीवान से कहा--लड़के के विवाहखर्च के लिए पाँच हजार रुपया दे दो और जिन चीजों की उसे आवश्यकता हो तो दे देना !

धूमधाम से लड़के की शादी हो गई। धीरे-धीरे उसका परिवार भी बन गया और वह सम्पत्ति--शाली भी हो गया ! उसकी तीन प्रतिज्ञाओं ने उसे सांसारिक दृष्टि से भी पूर्ण सुखी बना दिया ! वह अपने धर्म पर दृढ़ रहा तो सब संकट कट गये ! ठीक ही कहा है—

धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः ।

अर्थात्--जो मनुष्य धर्म की घात करता है, उसकी घात होती है और जो धर्म की रक्षा करता है, उसकी रक्षा होती है !

अभिप्राय यह है कि सत्य सदा सुखकर है। सत्य को प्राप्त करके उसकी सद्भावपूर्वक उपासना करना ही मानव-जीवन की बहुमूल्य निधि है। सत्य की उपासना करते समय, बहुत बार ऐसा प्रतीत होता है कि हमें हानि पड़ रही है, मगर सत्य कभी हानिकर हो ही नहीं सकता। सत्य का माहात्म्य अपूर्व है। वह अनन्त सुख और असीम सन्तुष्टि प्रदान करता है। जब तक मनुष्य को सत्य के प्रति पूर्ण आस्था नहीं उपजी है, वह पूर्ण रूप से सत्य की शरण में नहीं गया है, तब तक ठोकरें खाता रहता है; अनेक प्रकार के कष्टों को झेलता रहता है और मिथ्या के चक्कर में पड़ा रहता है।

उपनिषद् में एक जगह कहा गया है-'सत्यं ब्रह्म जग-

न्मिथ्या।' अर्थात् परमात्मा सच्चा है और जगत् का प्रपंच मिथ्या है। इसका ठीक तात्पर्य यही है कि परमात्मा की शरण लेने से ही मनुष्य का वास्तविक कल्याण हो सकता है। संसार के पदार्थ मनुष्य का कल्याण नहीं कर सकते। परन्तु परमात्मा की शरण लेने से पहले परमात्मा का सच्चा स्वरूप समझ लेना चाहिए। वही परम सत्य है और उससे बढ़ कर दूसरा कोई सत्य नहीं हो सकता। हमारे यहाँ भी कहा है—

"तं सच्चं खु भयवं"

अर्थात् सत्य ही भगवान् है।

इतने विवेचन के पश्चात् यह कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि परमात्मा और सत्य में कोई अन्तर नहीं है और सत्य की प्राप्ति ही परमात्मा की प्राप्ति है। जिस पुण्य-वान् पुरुष को परमात्मा की प्राप्ति हो गई है, वह अन्य देवी-देवताओं के सामने घुटने नहीं टेकेगा। अगर पहले टेकता रहा है तो उनसे विमुख हो जायगा। जैसे अमृत का पान करने के पश्चात् खारा पानी रुचिकर नहीं हो सकता उसी प्रकार सत्य-स्वरूप प्रभु का साक्षात्कार हो जाने पर अन्य कोई भी रूप आँखों को रुचिकर नहीं होता।

आरम्भ में जो स्तुति की गई है, उसमें आचार्य महा-राज ने यही भाव व्यक्त किया है। मनुष्य जब कुमार्गगामी बनकर कष्ट उठा चुकता है और ऊब कर सन्मार्ग पर आता है तब उसे सन्मार्ग विशेष रूप से प्रिय लगता है। ऐसा व्यक्ति फिर कभी कुमार्ग की ओर कदम उठाने की इच्छा नहीं करता उसे दोनों मार्गों की बुराई भलाई का अनुभव हो जाता है।

इस नियम के,अनुसार जिसने रागी, द्वेषी और मोही देवताओं को पहले देखा है, वह सम्यग्ज्ञान पाकर जब से वीतराग, वीतद्वेष और निर्मोह देवाधिदेव की शरण में आता है तो उसे विशेष रूप से सन्तोष होता है। उसके बाद संसार का कोई भी देवी-देवता उसके चित्त पर नहीं चढ़ता।

प्रश्न किया जा सकता है कि क्या सच्चे देव पर दृढ़ आस्था रखने के लिए यह आवश्यक है कि पहले कुदेवों की उपासना की जाय ? क्या कुदेवों की उपासना किये बिना सच्चे देव पर गाढ़ श्रद्धा नहीं हो सकती ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मोहनीय कर्म की परिणति नाना प्रकार की होती है। कोई-कोई जीव मिथ्यात्व के कीचड़ में फँसने के बाद सम्यक्त्व की प्राप्ति करते हैं और किसी-किसी को ऐसा उत्तम कुल आदि सामग्री मिल जाती है कि वे प्रारम्भ से ही सम्यक्त्व पा लेते हैं। उन्हे अधिक भटकना नहीं पड़ता। जैसे सन्मार्ग पर दृढ़तापूर्वक चलने के लिए पहले कुमार्ग पर चलना आवश्यक नहीं, उसी प्रकार सुदेव की शरण लेने के लिए पहले कुदेव की उपासना करना भी आवश्यक नहीं है।

भाइयो! आपमें से अधिकांश लोगो को जन्म से ही उत्तम वातावरण मिला है। उस वातावरण के प्रभाव से आपकी सच्चे देव, गुरु और धर्म पर आस्था हुई है और बनी है। इसे आप अपना अहोभाग्य समझें और उस आस्था को स्पर्शना का रूप देकर आत्म कल्याण करें। यही मेरी प्रेरणा है। इससे आपको आनन्द ही आनन्द प्राप्त होगा।

जिन भाइयों को वीतराग देव, निर्ग्रन्थ गुरु और दयामय धर्म पर अभी तक आस्था नहीं उत्पन्न हुई है, उन्हें दो भागों में बाँटा जा सकता है। प्रथम तो वे जो धर्म को आत्मा को और परमात्मा को मानते ही नहीं हैं और दुराग्रह के वशीभूत हो रहे हैं। उनसे मेरा यह कहना है कि वे अपने आग्रह को तनिक ढीला करें और शान्तभाव से, तात्त्विक दृष्टि को अपना करके, विचार करें। जो जिज्ञासु हैं, जिनके अन्तःकरण में सत्य-असत्य का विवेक करने की उत्कण्ठा है, अतएव जो आग्रहशील नहीं है, सरल हैं, और अभी तक सत्य को प्राप्त नहीं कर पाये हैं, उन्हें चाहिए कि शुद्ध आत्मिक हित को ही अपना एक मात्र लक्ष्य बना लें। राग, द्वेष और मोह आत्मा के विकार हैं और विकार जिस आत्मा में पाये जाते हैं, वह आत्मा मलीन होती है। जिस आत्मा में मलीनता है, उसे परमात्मा नहीं माना जा सकता। राग, द्वेष और मोह से प्रत्येक संसारी आत्मा युक्त है। इन दोषों से पिण्ड छुड़ाने के लिए रागी-द्वेषी देव की उपासना करने से कोई लाभ नहीं है। आत्मा का शाश्वत कल्याण तो वीतराग परमात्मा की आराधना से ही संभव है।

परमात्म प्राप्ति का पथ प्रदर्शित करने के लिए गुरु की आवश्यकता होती है। जो पथिक अज्ञात पथ पर चलना चाहता है, उसके लिए आवश्यक होता है कि वह अपने साथ एक ऐसा पथप्रदर्शक ले ले जो उस मार्ग से भली भाँति परिचित हो। ऐसा नहीं किया जाता तो पथिक रास्ता भूल जाता है। कहीं का कहीं चल पड़ता है। अपनी मंजिल को नहीं पा सकता। कभी-कभी तो ज्यों-ज्यों वह चलता है, अपनी मंजिल से दूर होता जाता है। यही बात साधना के मार्ग में समझनी

चाहिए। गुरु के बिना साधना होना बड़ा ही कठिन है। आध्यात्मिक साधना का मार्ग बड़ा कठिन है। गुरु की सहायता से ही वह ठीक तरह तय किया जाता है। परन्तु महत्त्वपूर्ण बात यह है कि गुरु कैसा होना चाहिए? सौभाग्य से सद्गुरु की प्राप्ति हो गई तब तो बेड़ा पार है, अन्यथा टकराने और भटकने के सिवाय और कोई चारा नहीं है। गुरु के विषय में कहा गया है:--

> अद्वेष्टा सर्वभूतानां, मैत्रः करुण एव च।
> निर्ममो निरहंकारः, समदुःखसुखक्षमी ॥

अर्थात्--गुरु ऐसा होना चाहिए जो संसार के किसी भी निरपराध या सापराध प्राणी पर द्वेष न रखता हो। जिसके हृदय में से प्राणी मात्र के लिए अखण्ड अनुकम्पा का स्रोत उमड़ता हो। जिसके लिए प्राणी मात्र मित्र हो, कोई शत्रु न हो; अर्थात् जो पूर्ण रूप से अहिंसा का पालन करता हो।

गुरु की दूसरी विशेषता ममत्वहीन होना है। जो रुपया-पैसा, सोना-चांदी आदि अचेतन पदार्थों पर और पुत्र कलत्र मित्र शिष्य आदि सचेतन पदार्थों पर ममता न रखता हो, जो सब को अपना कुटुम्बी और किसी को भी अपना आत्मीय न समझे, वही गुरु हो सकता है।

ज्ञान, चारित्र, जाति, कुल, ऐश्वर्य और आदर-सत्कार आदि का अहकार न करना, गुरु की तीसरी विशेषता है।

समानभाव से सुख-दुःख को सहन कर लेना गुरु की चौथी विशेषता है।

धर्म के विषय में पहले कई बार कहा जा चुका है। धर्म सच्चा वही है जो दयामय और अनेकान्तमय हो।

यह देव, गुरु और धर्म के जो लक्षण बतलाये गये हैं, इनसे परीक्षा करके इन तत्त्वों का निर्णय करो और निर्णय करने के पश्चात् सच्चे देव की आराधना करो और अपने जीवन को सद्गुरु के चरणों में अर्पित कर दो। उनके बतलाये मार्ग पर चलो। उनका बतलाया मार्ग ही धर्म है।

ऐसा करने पर परमात्मपद की प्राप्ति करने में कठिनाई न होगी।

७-१-५३ }
पाली }

# जीवन की ऊँचाई

स्तुतिः—
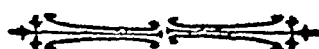
किं शर्वरीषु शशिनाऽह्नि विवस्वता वा,
युष्मन्मुखेन्दुदलितेषु तमःसु नाथ !
निष्पन्नशालिवनशालिनि जीवलोके,
कार्यं कियज्जलधरैर्जलभारनम्रैः ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं कि-हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन् ! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय ? प्रभो ! कहाँ तक आपके गुण गाये जाएँ ?

हे प्रभो ! आपके मुख चन्द्र से ही जब अज्ञानान्धकार का विनाश हो जाता है; तब हमें दिन में सूर्य की एवं रात्रि में चन्द्रमा की क्या आवश्यकता है ? जब भगवान् के दर्शन के

महाप्रभाव से आत्मा के समस्त आवरण हट जाते हैं और आत्मा दिव्य दृष्टि को प्राप्त कर लेता है, तब स्थूल और सूक्ष्म, रूपी एवं अरूपी, समस्त पदार्थ उसे इस प्रकार प्रत्यक्ष होने लगते हैं, जैसे हथेली पर रक्खा आँवला ! उसे दिन में देखने के लिए सूर्य की आवश्यकता नहीं होती, रात्रि में देखने के लिए चन्द्रमा के प्रकाश की अपेक्षा नहीं होती। भगवद्भक्ति के प्रभाव से उसकी निज की ज्ञान शक्ति ही इतनी प्रकट हो जाती है कि संसार के सभी ज्ञेय पदार्थ उसमें प्रतिबिम्बित होते रहते हैं। फिर किसी भी पर-साधन की उसे कोई आवश्यकता नहीं रहती !

किसान खेत में धान्य बोता है। सब को मालूम है कि धान्य के लिए वर्षा की अपेक्षा रहती है। उचित समय पर ठीक-ठीक वर्षा नहीं होती तो धान्य का परिपाक भी ठीक नहीं होता। किन्तु उस वर्षा की आवश्यकता तभी तक है जब तक धान्य पक न चुका हो ! धान्य पक गया हो और किसान ने फसल काट ली हो, तब वर्षा से क्या प्रयोजन है ?

भगवान् की सम्यक् भक्ति करने से आत्मा में अपरिमित तेज, प्रकाश का आविर्भाव हो जाता है। आत्मा के तेज के सामने सूर्य का तेज भी उसी प्रकार मन्द पड़ जाता है जैसे सूर्य के तेज के सामने जुगनू का तेज ! उस अतीत और अनागत कालीन पदार्थों को भी प्रकाशित करने वाली दिव्य ज्योति की समता करने की क्षमता किसमें है ?

जिन भगवान् ऋषभदेवजी की भक्ति से आत्मा में ऐसी तेजस्विता आती है, उन भगवान् ऋषभदेवजी को मेरा बार-बार नमस्कार हो !

वस्तुतः आत्मा ज्ञान और दर्शन के प्रकाश का पुंज है। वह प्रकाश इतना तीव्रतर है कि वहाँ न अँधेरे की गुंजाइश है, न अस्पष्टता की। अन्दर-बाहर-सभी ओर प्रकाश ही प्रकाश है! आत्मा का अपना स्वरूप ही प्रकाश है तो फिर अंधकार को वहाँ क्या अवकाश है? परन्तु कर्मों का आवरण उस प्रकाश को आच्छादित किये हुए है। भगवद्भक्ति की तीव्रतर वायु जब अन्तःकरण में बहती है तो आवरण उसी प्रकार छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, जैसे सूर्य के आगे आये हुए मेघ आँधी चलने पर इधर-उधर हो जाते हैं! उस समय जैसे सूर्य अपने स्वाभाविक रूप में चमकने लगता है, उसी प्रकार आवरणों का निवारण होने पर आत्मा भी अपने परम ज्योति स्वरूप में चमकने लगती है! तब अनन्त चेतना का आविर्भाव हो जाता है। लोक और अलोक-अखिल विश्व उस चेतना में प्रतिबिम्बित होने लगता है!

आत्मा का सहज प्रकाश इतना भास्वर है, इतना प्रकृष्ट है और इतना व्यापक है कि अनन्त सूर्य और अनन्त चन्द्रमा भी उसके सामने नगण्य हैं! सूर्य और चन्द्रमा अत्यल्प रूपी और स्थूल पदार्थों को ही प्रतिभासित कर सकते हैं. किन्तु चेतना की अव्याहत अनन्त ज्योति तो अणु-अणु और कण-कण को भी और अरूपी पदार्थों को भी पूर्ण रूप से प्रति भासित करती है!

जब भगवद्भक्ति से ऐसी अपूर्व ज्योति प्रकट हो जाती है तब सूर्य और चन्द्रमा की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती! सूर्य और चन्द्रमा की प्रकाशक शक्ति है ही कितनी सी? उनके चमकने पर भी आखिर तो हमारी आँखें ही देखती हैं। आँखों

की ज्योति चली जाती है तो सूर्य और चन्द्रमा बेकार हो जाते है! उनका उदय होने पर भी जगत् अन्धकार से आच्छन्न ही प्रतीत होता है। इससे स्पष्ट है कि वास्तव में आत्मा का प्रकाश ही सच्चा प्रकाश है! आत्मा मे प्रकाश है तो भौतिक प्रकाश भी हमारे काम आ जाता है। आत्मा का प्रकाश न हो तो बाहर का कोई भी प्रकाश काम नहीं आ सकता!

पृथ्वी के उदर में समाया हुआ हीरा चमकता नहीं है। तो क्या, यह मान लिया जाय कि उसमें चमक नहीं है? खान से बाहर निकालने पर और यथोचित्त संस्कार करने पर वह चमकने लगता है तो क्या यह समझा जाय कि वह चमक उसमें बाहर से आ जाती है? क्या खराद में यह शक्ति है कि वह हीरे में चमक उत्पन्न कर देती है? किसी कारीगर में ऐसी शक्ति है कि वह ऊपर से हीरे में चमक डाल दे? अगर यह सम्भव होता तो गलियों में पड़े हुए सभी पाषाणों के टुकड़े हीरे बन जाते! कारीगर सभी में चमक भर देते! फिर खानें खोदने की आवश्यकता ही क्या रह जाती?

नहीं, चमक हीरे मे ही विद्यमान है। वह कहीं बाहर से नहीं आती। किन्तु प्रकट होने से पहले, संस्कार करने से पहले, वह छिपी रहती है। निमित्त पाकर वह आविर्भूत हो जाती है।

प्रत्येक आत्मा हीरे के समान है। उसमें अपनी स्वाभाविक चमक है। चित्—चमत्कार आत्मा का अभिन्न लक्षण होता है वह त्रिकाल स्थायी होता है। अतएव चेतना का चमत्कार आत्मा में स्थायी रूप से रहता है। परन्तु कषाय और मिथ्यात्व आदि का मैल चढ़ा होने से आत्मा की चमक

दबी हुई है ! जो आत्मा संयम के खराद पर चढ़ कर स्वच्छ हो गई, वह निर्मल बन गई। उसकी चमक-दमक प्रकट हो गई। जिसे अनुकूल निमित्त कारण नहीं मिले वह मलीन अवस्था में पड़ी है।

प्रश्न होता है कि आत्मा की उस अलौकिक ज्योति को किस उपाय से प्रकाश में लाना चाहिए ? यही महत्त्वपूर्ण प्रश्न है और हमारे समग्र धर्मशास्त्र इसी प्रश्न को हल करने के लिए हैं। शास्त्रों में प्रतिपादित नाना प्रकार के व्रत, नियम, आचार, तप आदि का एक मात्र उद्देश्य उसी ज्योति को प्रकाश में लाना है।

आत्मिक ज्योति को तिरोहित करने वाला आत्मा का प्रथम शत्रु अज्ञान है। उसे मिथ्याज्ञान भी कह लीजिए, मिथ्यात्व भी कह लीजिए। जब तक मिथ्यात्व है तभी तक अज्ञान है। दोनों एक साथ रहते हैं और एक ही सिक्के के दो बाजू हैं। सारांश यह है कि सर्वप्रथम अज्ञान को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। अज्ञान को हटाने के लिए ज्ञानीजनों की उपासना करनी चाहिए, ज्ञान के प्रति भक्ति का भाव होना चाहिए, ज्ञानवानों की संगति करनी चाहिए।

ज्ञान प्राप्त करने के लिए हृदय की शुद्धि आवश्यक है। हृदय शुद्ध हुए बिना ज्ञान नहीं होता और ईश्वरत्व की प्राप्ति भी नहीं होती। हृदयशुद्धि के लिए कहा गया है कि तीर्थ का सेवन करो ? मगर तीर्थ कौन-सा है ?

सत्यं तीर्थं तपस्तीर्थं तीर्थमिन्द्रियनिग्रहः।

सबसे बड़ा तीर्थ सत्य है। झूठ बोलोगे तो सत्य रूप

तीर्थ से जुदा चले जाओगे। दूसरे तपस्या करना भी तीर्थ का सेवन करना है। तीसरे इन्द्रियों को अपने अधीन बनाना भी तीर्थ है। यह तीनों तीर्थ महान् पुण्यधाम हैं। जिनका सहारा लेकर जीव तिरते हैं, कल्याण प्राप्त करते हैं, वह तीर्थ कहलाता है। उक्त तीनों तीर्थ जीव को तारने वाले हैं! जिस आत्मा को इन तीनों तीर्थों की प्राप्ति हो जाती है उसके लिए 'मन चंगा तो कठौती में गंगा' कहावत चरितार्थ हो जाती है। इन तीनों तीर्थों की प्राप्ति न हो तो फिर चाहे गंगा में स्नान करो, जाहे यमुना में और चाहे समुद्र में गोते लगाओ, कुछ भी प्रयोजन सिद्ध होने वाला नहीं है! चमड़ी साफ भले हो जाय, अन्तरंग स्वच्छ होने वाला नहीं।

तीर्थ चाल्या तीन जना, कामी कपटी चोर।
गया था पाप उतारने, सौ मन लाये और॥

जिसका अन्तरंग स्वच्छ नहीं· वह पद-पद पर पाप से लिप्त होता है! वह पाप के स्थानों में तो पाप करता ही है, धर्मस्थानक में भी पाप के पुंज को ही इकट्ठा करता है! कामी, कपटी और चोर तीर्थस्नान करने को निकले। कामी पुरुष की नज़र औरतों पर ही रही। जहाँ सौन्दर्य दीख पड़ा वहीं उसकी नज़र अटक गई और पाप का संचय करने लगी। कपटी कपट का ही काम करता रहा और चोर को और कुछ नहीं मिला तो नयी जूतियाँ ही चुराने की सोचता रहा!

सत्य के विषय में परसों कुछ प्रकाश डाला गया था, किन्तु यह विषय इतना विस्तृत और महत्त्वपूर्ण है कि जितना भी प्रकाश डाला जाय, उतना ही थोड़ा है! वास्तव में सत्य

समस्त धर्मों की नींव है। सत्य के बिना धर्म का कोई भी अंग टिक नहीं सकता। सत्य नहीं है तो कुछ भी नहीं है।

कई लोग धरोहर हजम करके और धमारे की रकम पचा कर झूठ बोल जाते हैं। परन्तु इस पाप का कितना भीषण परिणाम होता है, इसकी कल्पना भी उन्हें नहीं होती। धरोहर हज़म करना मीठा किन्तु प्राणघातक विष खाना है। पकवान में विष खाते समय मीठा लगता है किन्तु थोड़ी ही देर में वह प्राणों का अन्त कर देता है। इसी प्रकार किसी की धरोहर को हड़प जाना तो अच्छा लगता है, परन्तु भविष्य में नतीजा अत्यन्त भयावह और दारुण होता है।

औरों की धरी धरोहर को, जो आप हज़म कर जाते है।
गौतम! उसके सुत जवान हो हो करके फिर मर जाते हैं।

आह, कितना हृदयविदारक परिणाम उसको भुगतना पड़ता है! उसके बेटे बराबर के हो-होकर मर जाते हैं! आज संसार में ऐसी जो घटनाएं देखी-सुनी जाती हैं, यह धरोहर को ही हज़म कर जाने का कुफल है। भले इस जन्म में किसी ने धरोहर न हड़पी हो लेकिन पूर्व जन्म में हड़पी होगी; क्योंकि पाप किये बिना फल नहीं भोगा जाता है।

बड़े बड़े धनाढ्य प्रायः धरोहर नहीं रखने जाते। साधारण स्थिति के लोग ही जिनके पास अपनी सम्पत्ति की सुरक्षा के पर्याप्त साधन नहीं होते, किसी सम्पत्तिशाली को प्रामाणिक विश्वासपात्र समझ कर अपने प्राणों के समान पूंजी धरोहर के रूप में उसके घर रख देते हैं। किन्तु जब उस सम्पत्तिशाली के मन में पाप की भावना उत्पन्न होती है और वह उस गरीब की

पूंजी को खा जाता है, तब उस बेचारे को कितना कष्ट होता है! उसे मारणान्तिक पीड़ा होती है! इस प्रकार दूसरों को दारुण पीड़ा पहुँचाने वाले क्या दैव के विधान से कभी बच सकते हैं? दूसरों की आँखों में धूल झोंकी जा सकती है, परन्तु कर्म के प्रतिशाघ से नहीं बचा जा सकता। प्रत्येक को अपने-अपने कर्मों का अनेक गुणा फल भोगना पड़ता है! सत्य का सेवन करने वाले ऐसा घोर पाप करने का विचार तक नहीं कर सकते। अतएव सत्य का आश्रय लेने से मनुष्य अनेक पापों से बच जाता है। इसी कारण सत्य को पहला तीर्थ कहा है।

दूसरा तीर्थ है तपस्या करना। तपस्या में महान् शक्ति है। तपस्या की शक्ति वाणी से अगोचर है। अगर आप भूतकाल के महान् पुरुषों के जीवनचरित को व्यापक दृष्टिकोण लेकर पढ़ेंगे तो प्रतीत होगा कि उनके ऊँचे दर्जे पर पहुँचने का श्रेय उनकी तपस्या को ही है। तपस्या के बिना कभी किसी को उच्च श्रेणी पर पहुँचते नहीं देखा। तपस्या ही जीवन शुद्धि का मार्ग है।

एक राजा हाथी पर सवार होकर वायु सेवन के लिए गया। थोड़ी दूर जाकर उसने कहा—घोड़ा लाओ। राजा के आदेश के अनुसार घोड़ा उपस्थित किया गया और वह हाथी से उतर कर घोड़े पर सवार हो गया। कुछ आगे जाकर राजा के मन में फिर तरंग उठी। उसने आज्ञा दी-मेरे लिए पालकी लाओ! पालकी हाजिर की गई और राजा पालकी में बैठकर जाने लगा।

कुछ आगे बढ़ा ही था कि उसने कहा—गर्मी बहुत लग

रही है। किसी घनी छाया वाले वृक्ष की छाया में पड़ाव डाल दो! थोड़ी देर विश्राम करेंगे!

उसी समय एक सघन आम्रवृक्ष के नीचे गद्दी तकिया लगा दिये गये और राजा साहब आराम से लेट गए। गुलाम लोग पैर दवाने लगे। वहीं आसपास दो गरीब औरतें छाने विन रही थीं। इन्होंने राजा को देखा उनमें से एक ने दूसरी से कहा—इन राजा साहब को थकान कैसे आ गई?

हाथी चढ़ घोड़ा चढ़े, फेर चढ़े सुखपांव।
कब के थाके हैं सखी! पड़े दबावें पांव॥

अर्थात्—राजाजी हाथी पर बैठे, फिर घोड़े पर बैठे और फिर पालकी में सवार हो गए! यह कहाँ मजदूरी करने गये कि थक गये हैं और पड़े-पड़े पाँव दबवा रहे हैं!

लोग मालदारों को देखकर सोचते हैं कि हम भी ऐसे क्यों न हुए। और वे स्वयं मालदार होना चाहते हैं। जब उनसे कहा जाता है 'हो जा भाई, तू भी मालदार हो जा। तुझे रोकता कौन है? तब वह कहने लगता है—'क्या करूं, मेरी तकदीर में जो नहीं है!'

अरे भाई, तकदीर को बनाना और बिगाड़ना तो तेरे ही हाथ में है। तेरी तकदीर को कोई दूसरा तो बनाता नहीं है! बिगाड़ता भी नहीं है। पहले चूक गया तो चूक गया, अब तो संभल जा! अब तो सत्य को पकड़ ले! अब तो जीवों की दया कर ले और थोड़ी बहुत तपस्या कर ले। वर्त्तमान को नहीं बिगाड़ सुधार सकता, परन्तु भविष्य को बनाना बिगा-

इना तो तेरे ही हाथ में है ! अब ऊँची क्रिया करेगा तो भविष्य में ऊँची स्थिति पाएगा । भैया, आखिर तो करने से ही मिलेगा विना किये कुछ भी मिलने वाला नहीं है ! जो किया है उसे भोग रहे हो और जो करोगे, वही आगे भोगना पड़ेगा ! यह पक्की बात है ! इसमें कोई अपवाद नहीं होना । यह सोचकर तपस्या में तत्पर होओ ।

तपस्या न बन सकती हो तो भी कोई चिन्ता की बात नहीं; ब्रह्मचर्य का पालन करो । इतना भी न हो तो दो घड़ी परमात्मा का नाम लो-भजन करो । कुछ न कुछ करो, पर कुत्ते की मौत मत मरो । अच्छा करोगे तो अच्छा ही पाओगे ।

हाँ, तो पहली स्त्री ने जब उस राजा के विषय में पूछा तो दूसरी स्त्री ने उत्तर दिया—

भूखे रहे भूमि पड़े कीने उग्रगमन,
तब के थाके हैं सखी ! अब दबावें चरण ॥

यह राजाजी पहले उग्र तपस्या करके आये हैं ! इन्होंने लम्बी तपस्याएँ की हैं, भूखे रहे हैं, धरती पर सोये हैं और लम्बा-लम्बा पैदल विहार किया है । उसी समय की यह थका-वट है । उसे मिटाने के लिए चरण दबवा रहे हैं !

तात्पर्य यह है कि जिसने जैसा किया उसने वैसा पाया । अब जो जैसा कर रहा है वैसा ही पाएगा ।

इस संसार में आकर-मनुष्यजन्म पाकर क्या करना चाहिए ? एक मनुष्य किसी महात्मा के पास गया । बोला-महाराज, ज्ञान सुनाओ । तब महात्मा उपदेश देने लगे—

देता हूँ उपदेश जरा कान लगाना,
हक में तुम्हारे अच्छा है दिल बीच जमाना ॥

महात्मा कहते हैं–मेरी बात जरा कान लगा कर सुनना। इससे तुम्हारे हक में लाभ ही होगा। संसार में जिसकी तारीफ न हो उसकी जिन्दगी किसी काम की नहीं है। जिसकी यहाँ तारीफ है उसकी वहाँ–परमात्मा के घर–भी इज्जत होगी और जिसकी यहाँ बुराई एवं अपकीर्त्ति है, उसे वहाँ क्या अच्छाई मिलेगी ?

महात्माजी ने आगे कहा–अपकीर्त्ति का एक बड़ा कारण अपने भाई से लड़ाई करना है। तुम कभी भाई से रार–तकरार मत करना और खूब प्रेमपूर्ण व्यवहार करना। भाइयों में आपस में प्रेम होने का कैसा सुपरिणाम होता है। और वैर–विरोध होने से कितना बुरा परिणाम निकलता है, यह बात भारतवर्ष की जनता को समझाने की आवश्यकता नहीं है। रामायण और महाभारत इन दोनों बातों के स्पष्ट निदर्शन हैं। राम और लक्ष्मण आदि भाइयों में परस्पर प्रीति रही तो वे रावण जैसे प्रचण्ड प्रतापी और शक्तिशाली राजा को भी पराजित करने में समर्थ हो सके। उनका अयोध्या का साम्राज्य अक्षुण्ण बना रहा। रामचन्द्र आज भी देवता के रूपमें स्मरण किये जाते हैं। इससे बिल्कुल उल्टा उदाहरण कौरवों और पाण्डवों का है। यह भी भाई–भाई थे, परन्तु उनमें वैर–विरोध हुआ। परिणाम यह निकला कि अनगिनती मनुष्यों के प्राण गये, कौरव–कुल काल के गाल में चला गया और आज भी दुर्योधन आदि की अपकीर्त्ति होती है। एक ओर भाई–भाई में इतना प्रेम कि राम कहते हैं–भरत राज्य करें और भरत कहते हैं कि नहीं,

राज्य के अधिकारी रामचन्द्रजी हैं। दूसरी ओर मध्यस्थ बने हुए श्रीकृष्ण दुर्योधन से पाण्डवों के लिए पाँच गाँव माँगते हैं, मगर वह कहता है कि युद्ध किये बिना सुई की नौक बराबर भी जमीन नहीं दूँगा! आखिर दुर्योधन को अपना सारा राज्य देना पड़ा और अपने प्राण भी देने पड़े! दूसरी ओर रामचन्द्रजी का आदर्श कितना उज्ज्वल है? यह दोनों कथाएँ यद्यपि परस्पर विरोधी घटनाओं का उल्लेख करती हैं, फिर भी दोनों से मिलने वाली शिक्षा एक ही है!

सच्चा भाई वही है जो अपने भाई को अपनी ही आत्मा के समान समझता है और कभी हानि पहुँचाने का विचार भी नहीं करता!

चोरो में जैसा एका होता है, साहूकारो मे नहीं है। एक दुकानदार दूसरे दुकानदार की काट करता है और इससे दोनों की हानि होती है। अगर आपमें एकता हो जाय तो आपका बल इतना बढ़ जायगा कि आप बादशाह का भी तख्त उलट दें। बादशाह भले आज न रह गये हो, फिर भी आपकी एकता शासन को प्रभावित कर सकती है! मगर जहाँ फूट है वहाँ लूट है। अतएव भाई से प्रेम करो। भाई के समान संसार में और कौन है? भाई बड़ी चीज़ है। और सब मिल सकते है परन्तु भाई का मिलना मुश्किल है।

महात्माजी फिर बोले—और, देखो, अपने माता-पिता की सुख-सुविधा का सदैव ख़याल रक्खो। माता-पिता का तुम्हारे ऊपर असीम उपकार है। जिन्होंने तुम्हें यह तन दिया है, तुम्हारा पालन-पोषण करके तुम्हारे प्राणों की रक्षा की है,

तुम्हारे लिए हजारों प्रकार के कष्ट सहन किये हैं, जिन्होंने तुम्हें अपने प्राणों से भी अधिक प्यारा समझा है, उनके उपकारों की कीमत नहीं आँकी जा सकती। माता ने अपने हृदय का अमृत तुम्हें पिलाया है और पिता ने रात-दिन श्रम करके जो कुछ उपार्जन किया, वह सब तुम्हें सौंप दिया है! अतएव उनके उपकारों के प्रति कृतज्ञता रक्खो और ऐसा कोई काम न करो जिससे उन्हें कष्ट पहुँचे।

माता-पिता की सेवा में सदा तत्पर रहने वाला पुत्र ही सुपुत्र कहलाता है। जो अपने दुष्ट व्यवहार से माँ-बाप के हृदय को चोट पहुंचाता है, उससे अधिक निकृष्ट व्यक्ति और कौन हो सकता है? जो माता-पिता को आज दुर्वचन कहता है, उसे सोचना चाहिए कि जब वह दूध पर ही जीवित रह रहा था, उस समय माता अगर सार-संभाल न करती तो उसकी क्या दशा होती? एक माता कहती है—

जिस दिन तूने जन्म लिया था, मैंने दूध पिलाया।
पूरा रक्खा ध्यान तुम्हारा, अपना सुख विसराया॥
अब गाली सुना रहे बेटा, वे दिन याद करो॥टेर॥

इस प्रकार जिस माता ने तुम्हें जीवन दिया, अपना दूध पिलाकर तुम्हें बड़ा किया, तुम्हारे सुख को सुख और दुःख को दुःख समझा, उस माता के उपकारों का बदला किस प्रकार चुकाया जा सकता है? भगवान् ने माता-पिता के उपकारों को अत्यन्त गुरुतर बतलाया है और कहा है कि उनकी कितनी ही शारीरिक सेवा करे, बदला नहीं चुका सकते।

मगर कपूत कहता है—उँह, माँ क्या चीज होती है ! माँ को हम कुछ नहीं समझते ! मगर इस कुछ न समझने वाले को ध्यान रखना चाहिए कि अगर माँ तुझे कुछ न समझती तो तेरी जिंदगी कभी की समाप्त हो गई होती ! तेरा नन्हा सा शरीर कभी का धरती की गोदी में समा गया होता !

अतएव सत्पुत्र का यह श्रेष्ठतम कर्त्तव्य है कि वह सदैव माता-पिता को सुख और सन्तोष पहुंचाने का यत्न करे। उनके दिल को दर्द पहुँचाने वाला कोई काम भूल कर भी न करे।

इसी प्रकार अगर तुम्हारा परिवार बड़ा है तो परिवार के सब सदस्यों के प्रति एक-सा व्यवहार करो। पक्षपात पूर्ण व्यवहार करने से गृहकलह होता है। वहाँ गृहलक्ष्मी नहीं रहती। आज लोग विभक्त कुटुम्ब प्रथा का समर्थन करने लगे हैं, अर्थात् बाप बेटे को और भाई-भाई को अलग अलग परिवार बनाकर रहना चाहिए, ऐसा प्रतिपादन करने लगे हैं, किन्तु संयुक्त परिवार प्रथा का आदर्श बहुत ऊँचा है। सयुक्त परिवार में मनुष्य की आत्मीयता का जैसा विस्तार होता है, वैसा विभक्त परिवार में नहीं। विभक्त कुटुम्बप्रथा मनुष्य की क्षुद्र-भावना संकीर्ण मनोवृत्ति का द्योतक है। भला विचार करो कि जो मनुष्य अपने परिवार को भी अपना नहीं समझ सकता, वह 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की व्यापक भावना तक कैसे पहुंच सकता है ?

इसके बाद महात्माजी बोले—और देखो भाई, गुणी जनों की कभी निन्दा न करना। स्वयं सद्गुणों को प्राप्त करना अपने जीवन को महान् बनाने का मार्ग है। अगर तुम सद्गुण

नहीं प्राप्त कर सकते तो कम से कम उन महानुभावों की प्रशंसा तो करो जिन्होंने सद्‌गुण प्राप्त किये हैं। गुणी पुरुषों की प्रशंसा भी न कर सको तो इतना तो करोगे ही कि तुम्हारे मुख से उनकी कभी निन्दा न निकले। गुणियों की निन्दा करना गुणों की निन्दा करना है और गुणों की निन्दा करना अपने जीवन को अधःपतन के गड्हे में गिराना है। अतएव जो सदाचारी हैं उनके सदाचार की प्रशंसा करो, जो ज्ञानवान् विद्वान् और शास्त्रज्ञ हैं उनके ज्ञान की सराहना करो। जो दानी है, धर्मनिष्ठ है उसके दान की और धर्मनिष्ठा की तारीफ करो। कभी आत्मप्रशंसा न करो और पर की निन्दा न करो। कदाचित् कोई बुरा कृत्य करता है तो उसका फल वही भोगेगा। तुम उसकी निन्दा करके क्यों वृथा पाप कर्म बाँधते हो? जो जैसा करता है उसे वैसा ही फल मिलना है; यह एक निरपवाद और अकाट्य सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त पर पूर्ण विश्वास रक्खो।

दो आदमी धनोपार्जन करने की इच्छा से परदेश गये। दोनों गहरे प्रेम के साथ रहते थे। दोनों ने खूब धन कमाया और लखपति हो गये। जब लखपति हो गये तो दोनों ने सोचा—धनोपार्जन की इच्छा लेकर हम लोग परदेश निकले थे। वह इच्छा पूर्ण हो गई है। अब लौटकर अपने घर चलना चाहिए और बाल-बच्चों की सार-संभाल करनी चाहिए। इस प्रकार विचार कर दोनों ने अपनी पूंजी के जवाहरात खरीदे और एक ऊँट खरीदकर देश की तरफ रवाना हुए।

होनहार बलवान् होती है। रास्ते में उनमें से एक की बुद्धि बिगड़ गई। उसने सोचा—गाँव में कोई मालदार नहीं

है। अब हम दोनों लखपति कहलाएँगे! दोनों के पास बराबर-बराबर धन है, अतः दोनों का एक सरीखा मान-सन्मान होगा! ऐसा होने पर मेरी क्या विशेषता रहेगी? अगर मैं अपने साथी को मार डालूँ तो इसका धन भी मुझे मिल जायगा और गाँव भर में मैं अकेला ही लखपति होने की प्रतिष्ठा भी प्राप्त कर लूँगा!

ऐसा दुष्ट विचार आने पर उसने अपने साथी से कहा-भाई, मुझे तो प्यास लगी है। पानी चाहिए।

दूसरे ने कहा—यहाँ चोरों का अड्डा है। इस स्थान को शीघ्र ही लांघ जाने में कल्याण है। चले चलो, आगे पानी पी लेना!

किन्तु कपटी ने कहा-मेरा जी मिचला रहा है। मैं यहीं पानी पीऊँगा। प्यास अब नहीं सही जोती!

विवश होकर ऊँट को रोकना पड़ा। कपटी जलाशय के पास गया और पानी पी आया। आकर कहने लगा-मेरा जी घबरा रहा है। थोड़ी देर यहीं आराम कर लें; फिर आगे चलेंगे। यह कह कर वह लेट गया और झूठमूठ ही खुर्राटे लेने लगा।

उसे सोते देख दूसरा भी लेट गया और उसे भी नींद आ गई उसे गहरी नींद में देख कपटी उठा और छुरा लेकर उसकी छाती पर सवार हो गया!

ज्यों ही छाती पर वह सवार हुआ कि उसकी निद्रा भंग हो गई। उसने कपटी से कहा-अरे भाई, करता क्या है?

उसे कपटी का अभिप्राय समझने में देरी नहीं लगी। अतएव वह बोला-भाई, मेरी सारी पूंजी ले ले, परन्तु प्राण बचने दे !

कपटी ने कहा-नहीं, मैं हर्गिज़ नहीं छोड़ूंगा; कत्ल ही करूँगा।

दूसरा व्यापारी शरीर से दुर्बल था और फिर निश्शस्त्र था। कपटी के हाथ में छुरा था। वह कपटी का सामना करता भी कैसे ? विवश होकर उसने कहा-अच्छा, कत्ल किये बिना नहीं मानता तो तेरी इच्छा ! मगर मेरी पत्नी से चार अक्षर का संदेशा कह देना !

कपटी--याद रहा तो कह दूंगा। बता दे चार अक्षर ?

उसने कहा—बस, यही चार अक्षर-'चारु घोला'

इसके पश्चात् कपटी ने अपने साथी की छाती मे छुरा भौंक दिया और फिर उठाकर कुए में फेंक दिया अब वह ऊँट को लेकर अपने गाँव की तरफ रवाना हुआ।

जब वह गाँव में पहुँचा तो गाँव के लोगो को बहुत प्रसन्नता हुई कि चलो, हमारे गाँव में एक लखपति हुआ ! समय-समय पर काम आएगा !

थोड़े दिनों के पश्चात् उसके साथी की पत्नी अपने बाल--बच्चों को साथ लेकर आई। उसने तीव्र उत्कंठा से पूछा--आप दोनों साथ गये थे; फिर अकेले कैसे आए ? आपके साथी कहाँ रह गये ?

कपटी का हृदय एक बार तो काँप उठा ! मगर ऊपर से बोला -तुमने अपने पति की बात चलाई तो मुझे अपने मित्र

की याद आ गई! क्या कहूँ, मेरी छाती भर आती है! मुझे रोना आता है!

पत्नी ने व्यग्र होकर पूछा--बात क्या हुई?

कपटी—क्या कहूँ! हम दोनो ने व्यापार किया, किन्तु उसे हर दफ़ा घाटा ही घाटा हुआ! घाटे से घबरा कर वह एक बार अफीम खाकर मरने लगा तो मैंने पाँच सौ रुपये दिये! उसने फिर व्यापार किया और फिर घाटा लग गया। इस अर्थ चिन्ता में उसकी छाती दुखने लगी। सर्दी बैठ गई। जिस पर उसने ठडे पानी में स्नान कर लिया तो निमोनिया हो गया। मैंने भरसक इलाज कराया, मगर दवा कारगर नहीं हुई! आखिर जो हुआ उसे कहने को ज़ीभ नहीं चलती! बड़ा ही दुःख है!

स्त्री ने लम्बी और गहरी सांस ली। फिर सोचा—रोना तो जिंदगी भर है ही, पूछ तो लूँ कि अन्तिम समय कुछ कह गये या नहीं?

स्त्री के प्रश्न करने पर कपटी बोला—हाँ, चार अक्षर कह गये हैं—'बा-रु-घो-ला।'

स्त्री ने एक पुर्जे पर चारों अक्षर लिखवा लिये। पुर्जा लेकर वह सीधी रावले में पहुँची। रानी के पास जाकर फूट-फूट कर रोने लगी! मुँह से शब्द न निकल सके!

रानीजी दयावती थी। उन्होंने उसे सान्त्वना देकर समझाया और रोने का कारण पूछा। तब उसने कहा—मुझे और कुछ नहीं चाहिए। मेरे पास एक पर्चा है। यह मैं

आपको देती हूँ। इसमें चार अक्षर लिखे हैं। इनका, मतलब पूछना चाहती हूँ।

रानी ने पर्चा अपने हाथ में ले लिया। पढ़ा तो कुछ अर्थ समझ में नहीं आया। अतएव उसने अपने पास रख लिया और जब राजाजी भोजन करने आये तो कहा—आपके राज्य में कोई पण्डित भी हैं ?

राजा क्यों नहीं ! मेरे यहाँ बड़े-बड़े पण्डित हैं। उन्हें जागीरें दी हुई हैं। मगर तुम्हें उनसे क्या प्रयोजन है ?

रानी ने वही पर्चा निकाल दिया और कहा—इन अक्षरों का अर्थ निकलवाइए तो वे सच्चे पण्डित हैं !

राजा साहब वह पर्चा लेकर अपनी सभा में आये। सब पण्डितों को बुलवाकर बोले—तीन दिनों के भीतर इसका सही-सही अर्थ बतलाना, अन्यथा जागीरें जब्त करली जाएँगी और कोल्हू में पिलवा दिये जायगें !

पण्डितों ने वह पर्चा देखा। पाणिनीय के सारे व्याकरण सूत्र उन्हें याद थे। कोश भी कंठस्थ थे। मगर 'बारुघोला' का कहीं पता नहीं चला ! 'बारुघोला' को देखकर सब एक दूसरे का मुंह ताकने लगे !

जब मतलब न निकल सका तो राजा ने सब पण्डितो को एक कमरे में बंद कर दिया ! दूसरे दिन फिर मतलब पूछा गया, किन्तु फिर भी "बारूघोला" एक विभीषिका ही बना रहा ! पण्डित लोग व्याकरण, काव्य, कोश को छोड़ कर अब बालाजी, हनुमानजी और चंडिका देवीजी को याद करने लगे।

सोचा--जहाँ शास्त्र काम नहीं आते वहाँ शायद देवता काम आ जाएँ ! मगर आड़े वक्त पर देवता भी किनारा काट गये। कोई भी काम न आया ! एक दिन ही शेष रह गया था ! अगर अर्थ न निकल सका तो जीविका भी गई और जिंदगी भी गई ! हाय, कैसी मुसीबत आई है !

पण्डितों में एक कुछ कम पढ़ा-लिखा था। तीसरे दिन रात्रि में पण्डितों को दूसरे कमरे में ले जाया गया तो किसी प्रकार वह बाहर ही रह गया। वह बाहर सो रहा था। रात्रि में उसकी नींद खुली तो वह जंगल में भाग गया ! जंगल में पहुँच कर वह एक बड़े-से पेड़ पर चढ़ गया कि कोई जंगली जानवर मार न डाले ! वह पेड़ पर चुपचाप बैठ गया।

थोड़ी देर बाद उस पेड़ पर एक जिंद प्रकट हुआ और दूसरा सामने के पेड़ से प्रकट हुआ। दोनों में आपस मे बात-चीत होने लगी।

एक जिंद बोला--कल वाणिग्राम में पंडित लोग कोल्हू में पेले जाएँगे। हम लोग भी तमाशा देखने चलेंगे।

दूसरे ने पूछा--क्यों, बात क्या है ?

प्रथम—पण्डित चार अक्षरों का मतलब नहीं बता सके।

दूसरा--कौन-से चार अक्षर हैं ऐसे ?

प्रथम—"वारुघोला।"

दूसरा--इनका मतलब तो मेरी समझ में भी नहीं आता ! क्या तुम्हें कुछ मालूम है ?

प्रथम--हाँ, मैं जानता हूँ। इनका अर्थ यह है--

वा-वालचंद को

रू-रूपचंद ने

घो-घोर नींद में सोते समय

ला-लाख रुपयों के लिए मार डाला

इस प्रकार बातें करके दोनों जिंद अदृश्य हो गये। पेड़ पर बैठे हुए पण्डित ने जिंदों की बात सुनी तो मानों जिंदा हो गया! वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ। सोचने लगा-अब मैं पण्डितों के प्राणों की और प्रतिष्ठा की रक्षा कर लूँगा और सब पण्डितों का सिरमौर बन जाऊँगा! इसके बाद वह भागा-भागा वहीं पहुँचा, जहाँ से भाग कर आया था। पहरेदारों ने उसे बाहर देखा तो राजा के डर से दूसरे पण्डितों के साथ अन्दर बंद कर दियो! सब पण्डित जाग रहे थे और चिन्ता में मग्न थे! सोच रहे थे कि वृथा राजा के आश्रित बने! हम पण्डित हैं और सरस्वती की कृपा के भाजन थे। लक्ष्मी के चक्कर में पड़ कर आपत्ति के पात्र बने! हमें तो सन्तोष के साथ सरस्वती की ही उपासना करनी चाहिए थी! इधर यह पण्डित उस कमरे में पहुँच कर तान डुपट्टा सो गया।

प्रातःकाल हुआ। राजा सभा मे आकर सिंहासन पर बैठा। उसने पण्डितों को बुलाकर अर्थ पूछा, मगर कोई कुछ न बतला सका! राजा ने आदेश दिया-इन सब को घानी में पेलने का प्रबंध करो! देख लो, कोई रह तो नहीं गया है ?

सिपाहियों ने देखा तो यही पण्डितजी निश्चिन्त होकर नींद मे खुर्राटे भर रहे थे। सिपाहियों ने जगाया तो उसने कहा-सोने दो न आराम से! क्यों बकवाद कर रहे हो ?

सिपाहियों ने राजा से जाकर कह दिया। राजा ने कहा--उसे उठाकर यहाँ ले आओ। अब की बार सिपाहियों ने उसे जगाया तो वह उठ खड़ा हुआ। राजा के पास पहुँचा तो बोला--अन्नदाता! हम लोग तीन दिन के भूखे हैं! शास्त्र में लिखा है-'अन्नं वै प्राणाः।' अर्थात् अन्न ही प्राण हैं। इस प्रकार हम लोग निष्प्राण हो रहे हैं। निष्प्राणों के प्राण लेने से कोई लाभ नहीं। आप अर्थ पूछना चाहते हैं और न बतलाने पर कोल्हू में पेलना चाहते हैं तो पहले दालबाटी चूरमा घुटने दीजिए! तब हम लोगों की बुद्धि काम करेगी। तभी अर्थ समझ में आएगा! भूख में तो गांठ की बुद्धि भी चली जाती है!

राजा इस पण्डित की मस्ती से प्रभावित हुआ। उसने दालबाटी चूरमा बनाने का आदेश दिया। इस पण्डित ने दूसरे पण्डित से कहा-चिन्ता छोड़ो! मौत आने वाली है तो रुक नहीं सकती और नहीं आने वाली है तो आ नहीं सकती! मौत के आगमन के समय अगर मस्ती न बनी रही तो जिन्दगी भर का शास्त्रों का पठन-पाठन किस काम का है? इसलिए मस्त होकर पहले दाल-बाटी का भोग लगाओ। आगे की आगे देखी जाएगी।

भोजन तैयार हुआ और पण्डितों ने स्नान करके धाप-धाप कर खाया। तत्पश्चात् वे राज सभा में उपस्थित हुए। तब अर्थ को जानने वाले उस मस्त पण्डित ने कहा—महाराज, पहले यह बतलाया जाय कि यह अक्षर कहाँ से आए हैं?

राजा—रानी के पास से।

पण्डित—तो रानीजी से दर्याफ्त किया जाय कि उनके पास कहाँ से आए हैं?

रानीजी से पुछवाया गया तो उत्तर मिला—एक गरीब स्त्री से !

पण्डित ने कहा—उस गरीब स्त्री को बुलवाया जाय और पूछा जाय कि उसके पास कहां से आए है ?

गरीब स्त्री बुलवाई गई। उससे पूछने पर पता चला कि यह अक्षर सेठ रूपचन्द से उसे मिले हैं। तब रूपचंद सेठ बुलवाये गये। उनसे अक्षरों का इतिहास पूछा गया। उन्होंने वही बात दोहरा दी जो पहले कही थी।

इतना सब कहने के पश्चात् मस्त पण्डित गादी पर विराजमान होकर अर्थ करने लगे। उन्होंने वही अर्थ कर दिया जो जिद ने जंगल में किया था। अर्थ सुनकर रूपचन्द के पैरों तले की जमीन खिसक गई ! मगर उसने इस अर्थ की सचाई को स्वीकार नहीं किया ! जब अच्छी तरह मरम्मत की गई तो झख मार कर स्वीकार किया।

पण्डित की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। स्त्री को लाख रुपया दिलवाये गये। रूपचंद सेठ की सेठाई मिट्टी में मिल गई ! ठीक ही है—

बुरा पहले सुख पाएगा, आखिर तो वह पछताएगा।
बुरा करता जो काम, आखिर होता बदनाम,
जेल खाने की ठण्डी हवा खाएगा ॥ १ ॥

भाइयो ! बुराई का नतीजा शुरु शुरु में तो अच्छा दीखता है, परन्तु बाद में बहुत बुरा हाल होता है ! बुराई करने वाला फिर पछताता है।

इसलिए भाइयो ! सत्य पर कायम रहो और अहिंसा धर्म का पालन करो। यथाशक्ति परोपकार करो और परस्त्री को माता बहिन के समान समझो। क्रोध, कपट, लोभ, लालच मत करो। सन्तोष के साथ जीवन यापन करो। क्षयोपशम के अनुसार जो प्राप्त होता है वह होगा। हाय-हाय करने से कुछ लाभ नहीं है !

जीवन सदा रहने वाला नहीं है और सम्पदा साथ जाने वाली नहीं है। शरीर की आवश्यकताएँ परिमित हैं। फिर क्यों दुनिया भर की पूंजी अपनी तिजोरी में बद करने के लिए पाप करते हो ?

चार दिन की चांदनी आगे अंधेरी रात है।
सारे ठिकाने जाएँगे रहने की झूठी बात है ॥
नहीं किसी का है भरोसा, नहीं किसी का साथ है।
खोल कर चलती दफ़ा देखा तो खाली हाथ है ॥

भाइयो ! खाली हाथ जाना पड़ेगा। तन के वस्त्र भी साथ नहीं जाने वाले हैं ! लखपति क्या और करोड़पति क्या, कोई भी अपनी धन-दौलत साथ नहीं ले जा सकते ! सब यहीं पड़ा रह जाएगा। पाप-पुण्य ही साथ में जाएगा। इस बात पर तुम्हें विश्वास हो तो सँभलते क्यों नहीं हो ? पुण्य क्यों नहीं करते ? पाप ही पाप में क्यों रचे पचे रहते हो ? ज्ञानीजन कहते हैं—

करना हो सो कर ले रे सनम, तेरे कज़ा सिर पर खड़ी।
हँस बोल ले ले भलाई जग में है बड़ी ॥

तू तो कल निकल जायगा रह जायगी मिट्टी पड़ी।
नित्य ही रहती नहीं नादान ! फूलों की छड़ी ॥

जगत् में भलाई बड़ी चीज है। भलाई ले लो। अपने अज्ञान को दूर करके जीवन को ऊँचा बनाओ। जीवन को ऊँचा बनाने के साधन बतलाये गये हैं, उन्हें व्यवहार में लाओ। जल्दी करो। प्रमाद मत करो। मौत माथे पर मंडरा रही है। मानवभव पाकर मृत्यु को मारने का ही प्रयत्न करो। मृत्यु को जीत लोगे तो अक्षय आनन्द ही आनन्द प्राप्त कर सकोगे।

६-१-४६ }
पाली }

## ४
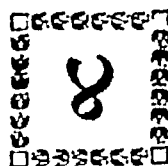
# कल्याणी वाणी

> नित्योदयं दलितमोहमहान्धकारम्,
> गम्यं न राहुवदनस्य न वारिदानाम् ।
> विभ्राजते तव मुखाब्जमनल्पकान्ति,
> विद्योतयज्जगदपूर्वशशाङ्कबिम्बम् ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं कि–हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन् ! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय ? प्रभो ! कहाँ तक आपके गुण गाये जाएँ ?

प्रभो ! आपके मुख-कमल को उपमा द्वारा समझाना चाहें तो किस वस्तु की उपमा दें ? संसार में शान्ति देने वाली, आह्लाद उत्पन्न करने वाली, प्रकाश का प्रसार

करने वाली और सुधा का स्राव करने वाली एक ही श्रेष्ठ वस्तु है। वह है चन्द्रमा। चन्द्रमा से ही भगवान् के मुख की उपमा दी जा सकती है। परन्तु भगवान् के मुख में और चन्द्रमा में बहुत अन्तर है। पहला अन्तर यह है कि चंद्रमा का नित्य उदय नहीं रहता। सूर्य की ललाई फैलते ही वह फीका पड़ जाता है और फिर गायब हो जाता है। किन्तु भगवान् का मुख सदैव ज्योतमय ही बना रहता है।

दूसरा अन्तर यह है कि चन्द्रमा पौद्गलिक अन्धकार को ही नष्ट करता है। द्रव्य अंधकार को भी वह आंशिक रूप में नष्ट कर सकता है। मोह रूप भाव-अंधकार को निवारण करने की शक्ति उसमें नहीं है। किन्तु भगवान् का मुख तो भावान्धकार को भी नष्ट करता है।

तीसरा अन्तर यह है कि चन्द्रमा को राहू ग्रस लेता है अर्थात् चन्द्रमा के सामने जब राहू आ जाता है तो वह निष्प्रभ हो जाता है। किन्तु भगवान् के मुखारविन्द के प्रकाश को हजारों राहू मिल कर भी फीका नहीं कर सकते। इसी प्रकार मेघ भी चन्द्रमा की ज्योति को छिपा देते हैं; मगर भगवान् की मुख-ज्योति को अथवा वाणी के प्रकाश को प्रलयकाल की घटनाएँ भी तिरोहित नहीं कर सकतीं।

चौथा अन्तर यह है कि चन्द्रमा अल्प प्रकाश वाला है, किन्तु भगवान् का आनन असीम प्रकाश-पुंज से परिपूर्ण है।

पाँचवाँ अन्तर यह है कि चन्द्रमा परिमित क्षेत्र को ही प्रकाशित करता है, किन्तु भगवान् का मुख लोक और अलोक को भी प्रकाशित करता है; क्योंकि भगवान् ने अपनी दिव्यध्वनि से लोकालोक का समान रूप से स्वरूप दिखलाया है।

इस प्रकार जब उपमान और उपमेय पर विचार करते हैं तो दोनों में बड़ा भेद प्रतीत होता है। इसी कारण गणधर महाराज कहते हैं--

चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा।

अर्थात् वीतराग प्रभु चन्द्रमाओं से अधिक निर्मल और सूर्यों से भी अधिक प्रकाशयुक्त हैं!

कहा जा सकता है कि जब भगवान् के मुख-कमल के सामने चन्द्रमा इतना हेठा है तो फिर चन्द्रमा की उपमा देने की आवश्यकता ही क्या है? इस प्रश्न का उत्तर प्रकारान्तर से पहले आ चुका है। किसी परोक्ष वस्तु का स्वरूप समझाने के लिए उपमा एक उपयुक्त साधन है। उससे वस्तु का स्वरूप शीघ्र आकलन किया जा सकता है। इस दृष्टि से जब भगवान् के मुख की छवि को समझाना होता है तो किसी उपमा की आवश्यकता होती है। पर उपमा के योग्य पदार्थों पर नज़र दौड़ाते हैं तो चन्द्रमा के समान या उससे बढ़ कर कोई दूसरी वस्तु दिखाई नहीं देती। तब जैसे तैसे चन्द्रमा की ही उपमा देनी पड़ती है।

जिन प्रभु का मुख अद्भुत और अनूठे चन्द्रमा की तरह चमकता हुआ अखिल विश्व को प्रतिभासित करता है, उन ऋषभदेव भगवान् को ही हमारा बार बार नमस्कार हो।

भाइयो! चन्द्रमा की चाँदनी में जितनी शीतलता है, उससे भी अधिक शीतलता भगवान् की वाणी में है। कर्ण रूप द्वारों से जिस-भव्य पुरुष के अन्तःकरण में भगवान् की वाणी

का प्रवेश होता है, उसकी समस्त अशान्ति, सारा सन्ताप दूर हो जाता है। भगवान् की वाणी में सदा के लिए अपूर्व शीतलता प्रदान करने की क्षमता है। यह भगवद्वाणी का अद्भुत चमत्कार है। इस वाणी की महिमा अपार है। कहा है:—

मिथ्यातम नासवे कूं, ज्ञान के प्रकासवे कूं,
आपा-पर भासवे कूं भान सी वरवानी है।
छहूँ द्रव्य जानवे कूं, बन्ध-विधि भानवे कूं,
स्व-पर पिछानवे कूं परम प्रमाणी है॥
अनुभव तारवे कूं जीया के जतायवे कूं,
काहू न सतायवे कूं, भव्य उर आणी है।
जहाँ-तहाँ तारवे कूं, पार के उतारने कूं।
सुख विस्तारवे कूं, यही जिनवाणी है॥

जिनेश्वर भगवान् की परमकल्याणकारिणी वाणी मिथ्यात्व का नाश करने वाली, सम्यग्ज्ञान का प्रकाश करने वाली, आत्मा-अनात्मा का भान कराने वाली है, अतएव सूर्य के समान है। छह द्रव्यों का स्वरूप जानने, बन्ध आदि तत्त्वों को समझने और स्व-पर का भेद-विज्ञान कराने में परम प्रमाण भूत है। इसी वाणी के प्रभाव से आत्मानुभूति का अमृत रस चखने को मिलता है, यही अहिंसा धर्म का उपदेश और आदेश करने वाली है।

भाइयो! मनुष्य जन्म पा लेना और फिर वीतराग की वाणी को श्रवण करने का सुअवसर मिल जाना असीम

सौभाग्य का परिणाम है। आपका भाग्य धन्य है कि अनायास आपको इसे श्रवण करने का संयोग मिल गया है!

जैसे पानी डालने से आग बुझती है और आग बुझने से शीतलता आती है, उसी प्रकार भगवान् वीतराग की वाणी सुनने से क्रोध की उपशांति होती है और क्रोध की उपशान्ति से हृदय में शीतलता आती है।

आग भी जलाती है और क्रोध भी जलाता है, किन्तु दोनों से उत्पन्न होने वाली जलन में महान अन्तर है। आग ऊपर-ऊपर से चमड़ी आदि को जलाती है, मगर क्रोध अन्तरतर को समाप्त करता और जलाता है। क्रोध की अग्नि बड़ी जबर्दस्त होती है। कहा भी है—

क्रोधो मूलमनर्थानां, क्रोधः संसारवर्द्धनः।
धर्मक्षयकरः क्रोध स्तस्मात्क्रोधं विवर्जयेत् ॥

अर्थात्—क्रोध अनेक प्रकार के अनर्थों का मूल है। क्रोध जन्म-मरण रूप संसार का वर्धक है। धर्म का नाश करनें वाला है। अतएव क्रोध का त्याग कर देने में ही कल्याण है।

क्रोधी मनुष्य जब क्रोध के आवेश मे आता है, तो उसमें एक प्रकार का पागलपन आ जाता है। पागल आदमी जैसे अपने हित अहित का विचार नहीं कर सकता, उसी प्रकार क्रोधी भी। यही कारण है कि वह कोई भी अनर्थ करने में संकोच नहीं करता।

क्रोधान्धाः पश्य निघ्नन्ति, पितरं मातरं गुरुम् ।
सुहृदं सोदरं दारानात्मानमपि निर्घृणाः ॥

अर्थात्—क्रोध से अंधे हुए पुरुष पिता के भी प्राण ले लेते हैं, माता को भी मौत के घाट उतार देते हैं; गुरु की भी हत्या करने से नहीं चूकते, मित्र और सहोदर भाई की जान का भी ग्राहक हो जाते हैं और अपनी पत्नी की भी हत्या कर डालते हैं! कई-एक क्रोधी कुए में कूद कर, रेलगाड़ी के नीचे दबकर, घासलेट छिड़क कर आग लगा कर या और किसी अन्य तरीके से आत्महत्या कर लेते हैं! इससे बड़ा अनर्थ और क्या हो सकता है? और जो ऐसे घोर अनर्थ में प्रवृत्त होगा, वह नरक गति आदि दुर्गतियों में जाकर दीर्घ काल तक भव-भ्रमण करे, यह स्वाभाविक ही है।

क्रोध कितना भयानक दुर्गुण है, यह समझना कठिन नहीं है। उसकी भयानकता तो उसके चिह्नों से ही प्रतीत हो जाती है। जिसके चिह्न ही अतिशय रुद्ररूप होते हैं, वह स्वयं रुद्र न होगा? एक कवि कहते हैं—

भ्रूभंग-भंगुरमुखो विकरालरूपो,
रक्तेक्षणो दशनपीडितदन्तवासाः।
आसंगतोऽपि मनुजो जननिन्द्यवेषः,
क्रोधेन कम्पिततनुर्भुवि राक्षसो वा ॥

क्रोधी मनुष्य का रूप आपने देखा है? ध्यान से देखोगे तो ऐसा जान पड़ेगा कि यह मनुष्य नहीं, राक्षस है! उसकी

भौंहें चढ़कर टेढ़ी हो जाती हैं। मुख विकृत हो जाता है। रूप विकराल बन जाता है। आंखें लाल-लाल बाहर को निकली पड़ती हैं। वह दांतों से होठ चबाता है। बेचैन जान पड़ता है। उसका बाह्य रूप जनता द्वारा निन्दनीय होता है। क्रोध से सारा शरीर कॉपने लगता है! भला ऐसा मनुष्य राक्षस से किस बात में कम है?

भाइयो! क्रोध की आग वह आग है जो पहले अपने आश्रय को ही जलाती है। जिस चित्त में क्रोध की ज्वालाएँ दहकती हैं, वह चित्त ही पहले पहल जलता है। क्रोध की ज्वालाएँ दूसरे को जलाएँ और कदाचित् न भी जलाएँ, पर अपने उत्पत्तिस्थान को तो जलाकर राख कर ही डालती है। क्रोधदग्ध जीव मर कर सर्प जैसी ही योनि में उत्पन्न होते हैं। यही कारण है कि ज्ञानीजन सब से पहले क्रोध रूपी शत्रु को जीतने का प्रयत्न करते हैं। इसीलिए चार कषायों में क्रोध को प्रथम स्थान दिया गया है। विवेकवान् व्यक्ति कभी क्रोध के अधीन नहीं होते। क्रोध की आग उत्पन्न होते ही वे क्षमा का पानी डालकर उसे शान्त कर देते हैं। भगवान् ने भी फर्माया है:—

"उवसमेण हणे कोहं।"

अर्थात्—क्षमा भाव धारण करके क्रोध का नाश करना चाहिए।

क्रोध की प्रवृत्ति को जीतने के लिए क्रोध के स्वरूप और उससे होने वाले दुष्परिणामों का विचार करना चाहिए। सोचना चाहिए कि क्रोध के समान दूसरा कोई ज़हर नहीं है। संखिया जैसा भयंकर विष भी एक ही जन्म में मृत्यु का कारण

बनता है, किन्तु क्रोध तो जन्मजन्मान्तरों में मारता है। अग्नि तो मकान लकड़ी आदि को ही जलाती है, परन्तु क्रोध की जबर्दस्त आग जब भड़कती है तो एक करोड़ अस्सी लाख जीते जागते मनुष्य खत्म हो जाते हैं!

यूरोप में क्रोध की ज्वाला भड़की तो अमेरिका ने जापान में एटम बम फेंका! उससे कुछ ही मिनटों में तीन लाख आदमी मर गये। कितने ही मासूम बच्चे, बूढ़े, गर्भवती स्त्रियाँ और दूसरे निरपराध मनुष्य यमलोक में पहुँच गये! जानवरों का तो कहना ही क्या है?

द्वीपायन मुनि के मन में क्रोध की आग सुलगी तो सारी द्वारिका नगरी ही भस्म हो गई!

इस प्रकार क्रोध के भयंकर परिणामों पर विचार करने से क्रोध को नष्ट करने में बहुत सहायता मिलती है।

कई लोगों के दिल में आता है कि यूरोप के इन योद्धाओं को अपने पाप कर्मों का फल क्यों नहीं मिलता? इनके कर्म क्या उदय में नहीं आते? परन्तु इस प्रकार की आशंका करना वृथा है। कृत कर्म उदय में आते ही हैं। देर हो सकती है, अंधेर नहीं हो सकता। क्योंकि कहा गया है—

जब लग तेरे पुण्य का, पहुँचे नहीं करार।
तब तक तुझको माफ है, औगुन करो हजार॥

जब तक पूर्व जन्म में किये हुए पुण्य का उदय है, तब तक इस जन्म के पापों का फल दबा रहता है, किन्तु—

पुण्य क्षीण जब होत है, उदय होत है पाप।
सूखे वन की लाकड़ी, प्रजले आप ही आप ॥

भाइयो! पुण्य के क्षीण होने पर और पाप का उदय होने पर क्षण भर मे सारी शेखी धूल में मिल जाती है! देख लो, सिंगापुर में जो करोड़पति और लखपति की हैसियत में थे, चंद मिनटों के बाद थोड़े से दानों के लिए और मुट्ठी दो मुट्ठी चावलों के लिए तरसते हैं! एक भाई इधर आया तो उसने कहा कि वह अन्न के अभाव में मरे हुए लोगों की लाशों पर पैर धर कर आया है!

लोग क्रोध करके, रोष दिखला कर और हत्याएं करके दूसरे को दबाना चाहते हैं। कमज़ोर व्यक्ति या राष्ट्र उस समय दब भी जाता है परन्तु वह सदा के लिए नहीं दबता। क्रोध और ताकत का दबाव कोई स्थायी दबाव नहीं है। शान्ति, क्षमा और प्रेम के दबाव में ही यह शक्ति है कि दबा हुआ व्यक्ति फिर कभी सिर नहीं उठाता और न लड़ने आता है। यह एक ऐसी सरल और अनुभवगम्य बात है कि संसार के इतिहास से सहज ही समझी जा सकती है। फिर भी आश्चर्य है कि बुद्धिमान् कहलाने वाले राजनीतिज्ञ इसे नहीं समझ पाते और पागलों की तरह शस्त्रास्त्र तैयार करके एक दूसरे पर चढ़ बैठते हैं! अब तक के युद्धों से ये लोग जरा भी शिक्षा नहीं लेते!

पहले महायुद्ध में जर्मनी दब गया था, परन्तु शक्ति-संचय करके वह फिर ताल ठोक कर खड़ा हो गया। इस बार फिर दब गया किन्तु क्या चर्चिल कह सकता है कि वह सदा के लिए ही दब गया है?

आग से आग शान्त नहीं होती, खून से खून साफ नहीं होता, क्रोध से क्रोध शान्त नहीं होता। आग को शान्त करने के लिए खून को धोने के लिए पानी की आवश्यकता है। क्रोध को उपशान्त करने के लिए क्षमा चाहिए!

शास्त्रकारों ने क्रोध के दुष्परिणाम बड़ी खूबी के साथ बतलाये हैं। क्रोध कषाय का मुखिया सरदार है। यह संसार रूपी विष वृक्ष को बढ़ाने वाला है। क्रोध के चार भेद किये हैं– (१) अनन्तानुबंधी क्रोध (२) अप्रत्याख्यानी क्रोध (३) प्रत्याख्यानी क्रोध और (४) संज्वलन क्रोध। अनन्तानुबंधी क्रोध ऐसी विकराल आग है जो जन्म-जन्मान्तरों तक भी नहीं बुझ पाती है। एक बार सुलगी हुई वह आग अनेक जन्मों तक जलती और जलाती रहती है। उसकी मौजूदगी में जीव घोर अज्ञान के अंधकार में भटकता है। यह क्रोध सम्यग्दर्शन तक उत्पन्न नहीं होने देता। मरने पर नरक गति में ले जाता है!

दूसरी श्रेणी का क्रोध अप्रत्याख्यानी क्रोध कहलाता है। इसका उदय होने से जीव पशु-पक्षियों की योनि पाता है। जब तक यह क्रोध बना रहता है, जीव में इतनी भी पात्रता नहीं आ सकती कि वह श्रावक के योग्य व्रतों को भी धारण कर सके।

प्रत्याख्यानी क्रोध उससे भी हलका है, किन्तु उससे भी आत्मा में इतनी मलीनता बनी रहती है कि आत्मा संयम धारण करने का पात्र भी नहीं बन सकता! यह क्रोध मनुष्य को देवत्व की ओर नहीं बढ़ने देता।

संज्वलन क्रोध सब से हलका होने पर भी आखिर तो क्रोध ही है! जब तक वह बना रहता है, आत्मा पूरी तरह शान्ति-

लाभ नहीं कर पाता। उसे अपने स्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता। यह क्रोध भी मोक्ष का बाधक है।

गंभीर विचारमन्थन के पश्चात् भी मैं यह नहीं समझ पाता कि लोग क्रोध क्यों करते हैं? क्या आपमें से कोई भी यह बता सकता है कि आप किसलिए क्रोध करते हैं? क्रोध में किसी प्रकार की मिठास है? क्रोध करने से सुख की अनुभूति होती है? कुछ मजा आता है? कोई लाभ होता है? प्रतिष्ठा में वृद्धि होती है? आखिर क्रोध करने का उद्देश्य क्या है?

क्रोध आने पर हृदय में संताप उत्पन्न होता है। भीतर ही भीतर आग सुलगने लगती है। बेचैनी महसूस होती है। फिर भी लोग क्रोध करना नहीं छोड़ते!

भाइयो! क्रोध के ज़हर को अमृत न समझो। यह तुम्हारी आत्मा के उज्ज्वल गुणों को नष्ट कर देने वाला हलाहल है!

तुम माल के लिए क्रोध करते हो! ज़मीन के लिए क्रोध करते हो! पर क्या तुम नहीं समझते कि माल और जमीन किसी की न हुई है और न होगी। बड़े-बड़े राजा-महाराज़ा और सम्राट् आये। स्नान करके, वस्त्राभूषण पहन कर, मुंह में पान का बीड़ा चबाकर ऐंठते और अकड़ते हुए कहने लगे—यह सारी ज़मीन हमारी है! इसके हम स्वामी हैं! मगर उन्होंने कभी ज़मीन से पूछा भी कि वह उन्हें अपना स्वामी समझती है या नहीं? पूछते तो उनका भ्रम भंग हो जाता। ठीक ही कहा है—

अर्था  हसन्त्युचितदानविहीनलुब्धं,
भूम्यो हसन्ति मम भूमिरिति ब्रुवाणम् ।
जारा हसन्ति  तनयानुपलालयन्तं,
मृत्युर्हसत्यवनिपं रणरंगभीरुम् ॥

जो कंजूस समुचित दान नहीं करता और धन को छाती से चिपटाये रहता है, धन उस पर हँसता है। उसकी मूढ़ता पर वह विना हँसे नहीं रह सकता। इसी प्रकार जो मनुष्य कहता है कि यह भूमि मेरी है, उस पर भूमि हँसती है! वह मन ही मन कहती है कि कितना नादान है यह! मैं न जानें कितनों की बन चुकी हूँ और कितनों की बनूँगी! जिन्होंने मुझे अपनी कहा, उन सबको मैंने अपने उदर में अन्तर्लीन कर लिया! अनन्त-अनन्त मूढ़ यहाँ आये और मुझे अपनी-अपनी कहते रहे! मगर मैं ज्यों की त्यों आज भी मौजूद हूँ और वे काल के गाल में चले गये! यह मनुष्य इस सत्य को जानता है, फिर भी मुझे अपनी बना रहा है!

बड़ा तो बड़ा ने धरणी गल गई जी,
गल गया हिन्दू और मुसलमान।
अमर कोई ना छे जी अमर कोई ना छे जी,
काची काया का सरदार अमर कोई ना छे जी ॥

अरे भोले जीव! तू मिजाज़ किस पर करता है? तू क्रोध और मान से मतवाला होकर दूसरों को निगल जाना चाहता है, किन्तु तू है किस खेत की मूली? जरा विचार कर

कि कैसे कैसे जबर्दस्त सम्राट् इस पृथ्वी पर आकर अदृश्य हो चुके हैं !

हाथों परवत तोलता समुद्र घूंट भरे।
ते योधा धरणी ढ़ले तू कंई गुमान करे ॥

जो शूरवीर हाथ पर पर्वत उठाने का दावा करते थे, समुद्र को चुल्लू में लेकर पी जाने का दम भरते थे, वे आज कहाँ हैं ? उनका कहीं नाम-निशान ही शेष रह गया है ? यह जमीन उन सबको निगल गई ! हिन्दुओं को भी और मुसलमानों को भी हज़म कर गई ! किसी-किसी की तो ऐसी दुर्दशा हुई कि उन्हें जलाने वाले भी नहीं मिले। किसी को गाड़ने वाले मयस्सर नहीं हो सके ! इसलिए भाई, जरा कल्पना के हिंडोले पर से उतर कर वास्तविकता की ठोस भूमिका पर खड़ा हो ! यथार्थता का विचार कर। आखिर सब को मिट्टी में मिल जाना है !

कोई धनाढ्य बीमार होता है तो उसके लिए दूर-दूर से सिविल सर्जन बुलाये जाते हैं। उस समय मौत मुस्करा कर कहती है—डाक्टर बेचारा क्या मुझे रोक सकता है ? इंजेक्शन लगाएगा। किन्तु मैं तो सिविल सर्जन को ही ले जाऊँगी।

उन हकीमों से यूं कह दो बोल कर,
करते थे दावे जो किताबें खोल कर—
यह दवा हर्गिज़ न खाली जायगी ॥

लुकमान और धन्वन्तरि जैसे वैद्य और चिकित्सक दावा करते थे कि हमारी दवा से मुर्दे भी जिन्दा हो सकते हैं! किन्तु जब मौत ने उन्हे धर दबोचा तो उनकी दवा उनके काम नहीं आई! लुकमान को तो मौत लुकमा ही कर गई! इसीलिए मौत दांत निकाल कर कहती है—कर ले अपनी मन-मानी! अपने हौंसले पूरे कर ले! डाक्टर को लाया है, पर देखना कहीं बीमार की परीक्षा करते-करते उसीके हृदय की धड़कन धोखा न दे जाय!

भूल जायगा सब डंड कुश्ती पड़ेगा पाले जब तू अजल के।
ये जिन्दगानी है चंद रोजा अरे ओ नादां! तू चल संभल के॥
अजल ने आकर के जब धौल मारा पकड़ निकाली शेखी सारी।
काम न आए तेरा लंगोटा, काम न आई तेरी रूमाली॥

अजी किस विचार मे हैं आप? यह तो नहीं सोच रहे कि मौत आएगी तो दूसरो की ही आएगी? आप अमरत्व का पट्टा लिखा कर नहीं आए हैं! जो सब की दशा वही तुम्हारी दशा होगी! मौत के सामने सब राग-रंग भूल जाओगे।

पश्चिम महाविदेह की कहानी है। वहाँ के एक नगर में एक राजा था। उसका नाम महाबल था।

महाबल नामा भूप है कोई इन्द्र तणा उनहार।

राजा महाबल रूप में साक्षात् इन्द्र के समान था। उसके सभी अंगोपांग अतीव सुन्दर थे। अंगोपांगों की सुन्दरता

भी पुण्य का चिह्न है। चेहरे की पोथी मनुष्य की असलियत बता देती है!

किसी सेठ के घर लड़के को जन्म हुआ। छह महीने बाद एक ज्योतिषीजी उसकी जन्मपत्री बना रहे थे। उसी समय एक सामुद्रिक शास्त्री आया और कहने लगा—अजी, क्या मीन, मेष मकर और कुंभ की गणना कर रहे हो?

ज्योतिषी ने कहा—सेठजी के यहाँ पुत्र का जन्म हुआ है।

सामुद्रिक शास्त्री--कहाँ है बालक? जरा मैं भी देखूँ!

बच्चा लाया गया तो उसे देख कर सामुद्रिक शास्त्री ने कहा-इसमें मीन-मेष की आवश्यकता ही क्या है?

लम्बा माथा विशाल सीना, लम्बी भुजा सिरे।
तू क्या देखे रे ज्योतिषी ये बैठा राज करे॥

मतलब यह है कि मनुष्य के अंगोपांगों की बनावट ही उसके व्यक्तित्व और भवितव्य को प्रकट कर देती है!

हाँ, तो राजा महाबल के बड़े-बड़े नेत्र, चौड़ा ललाट, विशाल सीना और प्रलम्ब भुजाएँ ही उसकी पुण्यवानी का परिचय दे रही थीं। उसे राज्य भी विशाल मिला था। उसकी राज्य-ऋद्धि एवं रानियाँ भी अनुकूल और सुन्दर थीं। संसार में अच्छे उपभोग के जो साधन समझे जाते हैं, वे महाबल को प्राप्त थे। वह खाने-पीने और ऐश--आराम करने में ही अपना समय व्यतीत कर रहा था। समझ था कि जो कुछ हूँ, मैं

ही हूँ ! भोग--विलास के वातावरण में ही वह अपने जीवन की सफलता समझता था !

राजा के चार दीवान थे। राजा का यह हाल देख कर उनमें से एक दीवान के मन में आया कि राजा अपना सारा समय ऐश-आराम में नष्ट कर रहा है और भविष्यके लिए कुछ भी नहीं कर रहा है ! दीवान होने के नाते मुझे राजा से इस विषय में कुछ कहना चाहिए। राजा को सत्परामर्श देना और हितकर मार्ग बतलाना मेरा धर्म है। इस प्रकार सोचकर दीवान ने एक बार अवसर देखकर राजा से कहा–महाराज ! व्यय ही व्यय होता रहे और नवीन आय न हो तो समुद्र भी खाली हो सकता है। मनुष्य के पुण्य के विषय में भी यह सिद्धान्त लागू होता है। संदेह नहीं कि आप प्रचुर पुण्य उपार्जन करके आये हैं और उसे भोग भी रहे हैं; किन्तु आगे के लिए क्या कर रहे हैं ? कुछ नवीन पुण्य भी उपार्जन करना चाहिए ! जो पुण्य लेकर आया है, उसे पुण्य खोकर नहीं जाना चाहिए। अतएव मेरा अनुरोध है कि आप पुण्य--धर्म भी करें !

इस दीवान की राजा के प्रति दी हुई शिक्षा सुनकर दूसरे दीवान ठकुरसुहाती बातें कहने लगे। उन्होंने दीवान से कहा- रहने भी दो अपना धर्मोपदेश ! यह तो साधुओं का काम है, तुम्हारा नहीं। अन्नदाता ! क्या रक्खा है इन बातों में ! आप तो खाओ, पीओ और मौज करो ! किसने देखा है परलोक ! फालतू का पचड़ा है !

अधिकांश लोग इसी प्रकार की घातक मनोवृत्ति के शिकार हो रहे हैं। इस मनोवृत्ति के फलस्वरूप वे इन्द्रियों के भोगोपभोगों को भोगने में ही दत्तचित्त रहते हैं और अपने

अनन्त भविष्य के कल्याण की ओर तनिक भी लक्ष्य नहीं देते ! राजा महाबल स्वयं ही इसी प्रकार व्यवहार कर रहा था, तिस पर मंत्रियों का समर्थन भी उसे प्राप्त हो गया ! नीम पर गिलोय चढ़ गया !

तो दूसरा मंत्री राजा से कहने लगा--अन्नदाता ! आप इनके कहने पर ध्यान न दो। इनकी खोपड़ी में तो भूसा भर गया है ! जो यहाँ मौज करेगा, वही वहाँ भी मौज करेगा ! प्रथम तो स्वर्ग, नरक और मोक्ष को देख कर आया कौन है ? होंगे तो क्या कष्ट सहने से मिलेंगे ? नहीं !

तीसरे मंत्री ने कहा—यह शरीर तो पाँच भूतों का पिण्ड है। जब पृथ्वी, पानी, आग, वायु और आकाश तत्त्व मिलते हैं तो शरीर के आकार के बन जाते हैं और जब शरीराकार बन जाते हैं तब उनमें चैतन्य उत्पन्न हो जाता है। चैतन्य का आधार आत्मा कोई चीज़ नहीं है।

दूसरे मंत्रियो की यह बाते सुनकर पहला मंत्री सोच-विचार में पड़ गया। उसने मन ही मन कहा--यह नास्तिक मंत्री धर्म एवं परमार्थ की ओर राजा का ध्यान ही नहीं जाने देते ! क्यों कि--

ऊँट ने इक्षु नहीं भावे, गधे मिश्री नहीं मानी रे।
ज्वर से भोजन-रुचि जाए, ऐसे अज्ञानी रे॥

सांठा सब को मीठा लगता है, किन्तु ऊँट को वह प्रिय नहीं। वह तो ऊंटकटारे को ही प्रेम से खाता है ! इसमें बेचारे

सांडे का क्या दोष है ? इसी प्रकार पापी को पाप करना ही पसंद आता है। धर्म करना पसंद नहीं आता।

कहते हैं, गधे को मिश्री खिला दो तो वह मर जाता है। कहो, मिश्री क्या ज़हर है ?

जिसे पित्तज्वर का प्रकोप हो रहा हो उसे मधुर दूध भी नीम जैसा कटुक प्रतीत होता है। उसके सामने बादाम का सीरा रख दो तो वह उस पर घृणा की नज़र ही डालेगा। उसे खाने की इच्छा नहीं करेगा।

इसी प्रकार मिथ्यात्व रूपी तीव्र पित्तज्वर से जो पीड़ित होते हैं, उनकी रुचि भी विपरीत हो जाती है। उन्हे सत्य तत्त्व मिथ्या जान पड़ता है और मिथ्या तत्त्व सच्चा प्रतीत होता है ! राजा महावल ऐसे ही व्यक्तियों में था !

सैलां करे खावे खिलावे, मेवा और पकवानजी।
रत्नजटित के गहनों में है, इसका पूरा ध्यानजी ॥

राजा सैर-सपाटे किया करता है; खाता और खिलाता है, सुन्दर-सुन्दर आभूषण पहनने का मज़ा लूटता है और अन्तःपुर में रानियों के बीच पड़ा रहता है ! राजा की यह दशा देखकर मन्त्री सोचता है—हाय, राजा पाप में डूबा-डूबा मर जायगा तो इसकी कितनी दुर्गति होगी ?

सत्पुरुष स्वभावतः करुणाशील होते हैं। दूसरो को अहित मार्ग में प्रवृत्त हुआ देखकर उनके हृदय की करुणा प्रबल रूप से जागृत हो जाती है। उनका हृदय द्रवित हो जाता

है। वे चाहते हैं कि किस प्रकार इन जीवों का, अज्ञान के कारण अपना अकल्याण न सोचने वाले प्राणियों का उद्धार करूँ ? सम्यग्दृष्टि पुरुष की एक भावना यह भी होती है कि–

'सब जीव करूँ शासन-रसी।'

इसी भावना से प्रवृत्त होकर चित्त प्रधान के समान महाबल का प्रधान भी उसे समीचीन मार्ग पर लाना चाहता था ! किन्तु अन्य मिथ्यादृष्टि मंत्रियों के कुचक्र के कारण उसकी चलती नहीं थी।

एक दिन यह हितचिन्तक मन्त्री किसी प्रयोजन से बाग में गया। वहाँ एक चारणलब्धि सम्पन्न मुनिराज विराजमान थे। वे गम्भीर आत्मध्यान में लीन थे। उन पर दृष्टि पड़ी तो मन्त्री उनकी सेवा में उपस्थित हुआ और विधिवत् वन्दना करके कुछ दूरी पर बैठ गया।

मुनिराज ने जब ध्यान समाप्त किया और नेत्र खोले तो मन्त्री ने फिर उन्हें वन्दना की। फिर उनसे कहा—गुरुदेव ! मेरे राजा कभी परमात्मा का नाम नहीं लेते और न धर्म की बात ही सुनते है। मैं ने धर्म के मार्ग पर लाने की अनेक चेष्टाएँ की, परन्तु मैं सफल नहीं हो सका ! उनकी दृष्टि और रुचि विपरीत ही परिणत हो रही है !

यह सुनकर दयाद्रवित मुनिराज ने कहा—सुनो प्रधान, तुम्हारे राजा सिर्फ एक महीने के मेहमान हैं। एक मास पूर्ण होने पर उन्हें काया का परित्याग करके महाप्रस्थान करना पड़ेगा।

मुनिराज की भविष्यवाणी सुनकर प्रधान का हृदय काँप उठा। उसने सोचा--महात्मा के वचन अन्यथा नहीं हो सकते !

मंत्री फिर सोचने लगा--अब राजा चेत भी जाएँ तो भी एक महीने में क्या कर लेंगे ? यह तो आग लगने पर कुआ खोदने की कहावत ही चरितार्थ होगी। क्योंकि—

अच्छे दिन पीछे गये प्रभु से कियो न हेत,
अब पछताये क्या हुवे, जब चिड़ियाँ चुग गईं खेत ॥

जब शरीर में शक्ति थी, मन मे स्फूर्त्ति थी, इन्द्रियों में सामर्थ्य था, सब प्रकार की अनुकूलताएँ थीं, तब प्रभु का भजन नहीं किया !' अब जब चिता बनने की तैयारी है तो क्या होने वाला है ! कितना सुन्दर अवसर हाथ से चला गया !

मंत्री ने विचार किया--न करने से कुछ करना भी भला है ! इस समय भी अगर राजा चेत जाय तो अपने जीवन का अन्तिम भाग सुधार सकता है। लोक में कहावत है--अन्त भला तो सब भला ! यह सोच कर मंत्री ने राजा को सारी बात बता देने का संकल्प कर लिया।

मंत्री राजा के पास पहुँचा। उस समय घबराया हुआ था। घबराहट के कारण उसका चेहरा लाल--लाल हो रहा था ! मंत्री ने राजा से निवेदन किया- अन्नदाता एक अर्ज है !

राजा—कहो, क्या कहना चाहते हो ?

मंत्री—आज मैं बाग में गया था।

राजा—अरे, यह कौन-सी महत्त्वपूर्ण बात है !

मंत्री—आगे की बात तो सुन लीजिए महाराज !

राजा—अच्छा-अच्छा, वह भी कहो !

मंत्री—बाग में एक चारण मुनि महाराज विराजमान थे !*

राजा—ठीक, फिर ?

मंत्री—मैंने आपके विषय में उनके सामने जिक्र किया तो वे कहने लगे- तुम्हारे राजा की उम्र सिर्फ एक माह शेष रह गई है !

राजा नास्तिक मंत्रियों के चक्कर में पड़ा हुआ था। वह परलोक और पाप-पुण्य पर विश्वास नहीं करता था। फिर भी एक मास पश्चात् होने वाली अपनी मृत्यु का समाचार सुन कर वह सिरे से पाँव तक काँप उठा ! उसका चेहरा विवर्ण और विषण्ण हो गया ! स्पष्ट प्रतीत होने लगा कि मृत्यु की कल्पना से राजा अत्यन्त परेशान हो गया है !

अन्त में मंत्री ने कहा—अन्नदाता, अब आपको अपने कर्त्तव्य का विचार कर लेना चाहिए !

---

**चारण मुनि वह कहलाते हैं, जिनमें आने-जाने की आश्चर्यजनक शक्ति होती है ! चाहें तो एक ही छलांग में अमेरिका पहुँच जाएँ और एक ही छलांग में वापिस यहाँ लौट आएँ ! उनमें इससे भी अधिक शक्ति होती है ।*

राजा की अवस्था उस समय अत्यन्त दयनीय हो गई। ऐसा जान पड़ा कि वह होशहवास को भी भूल रहा है! सच है, मृत्यु के समान संसार में अन्य कोई भय नहीं है। खास तौर से जो लोग अपने जीवन में धर्म और पुण्य का आचरण नहीं करते, वे अन्त में अत्यन्त खिन्न और विषण्ण होते हैं। धर्मनिष्ठ ज्ञानी पुरुष तो मृत्यु और जीवन में कोई विषमता नहीं मानते और समभाव ही रखते है। उन्हें मरने का भय नहीं और जीवित बने रहने का लोभ भी नहीं होता! वे समझते हैं कि मैं ने जीवन पर्यन्त जो संयम का आचरण किया है, उसका पूरा पूरा प्रतिफल तो मृत्यु की सहायता से ही प्राप्त हो सकता है! मृत्यु मेरे लिए सहायक है! मेरा मित्र है। वह मुझे अपने कर्त्तव्यों के फल के निकट पहुँचाती है।

परन्तु अज्ञानी जन को मौत के अवसर पर दोहरा दुःख होता है। प्रथम तो इस जीवन में मिले हुए भोग-विलास के साधनों एवं प्रियजनों के वियोग की वेदना उसे बेचैन बना देती है; तिस पर वह जब अपने अतीत जीवन पर दृष्टिपात करता है तो उसे अंधकार ही अंधकार दृष्टिगोचर होता है! वह अपने असंयम पूर्ण व्यवहारों पर पश्चात्ताप करता है। सोचते है--हाय, मैं ने अपने जीवन में घोर पापाचरण किया है; कभी धर्म का आचरण नहीं किया है! अब मेरी क्या दशा होगी?

शास्त्र में ज्ञानी और अज्ञानी की मृत्यु के पहले होने वाली विचार धारा का बहुत सुन्दर चित्र खींचा गया है। कहा है--

जहा सागडिओ जाणं, समं हिच्चा महापहं ।
विसमं मग्गमोइण्णो, अक्खे भग्गम्मि सोयई ॥
एवं धम्मं विउक्कम्म, अहम्मं पडिवज्जिया ।
बाले मच्चुमुहं पत्ते, अक्खे भग्गे व सोयई ॥
तओ से मरणंतमि, बाले संतसई भया ।
अकाममरणं मरई, धुत्ते व कलिणा जिए ॥

--उत्तराध्ययन, अ. ५, गा. १४ १६

अर्थात्—जैसे कोई गाड़ीवान् राजपथ (सड़क) को छोड़ कर ऊबड़खाबड़ रास्ते पर चल पड़ा हो तो जब उसकी गाड़ी की धुरा टूट जाती है. तब वह शोक करता है, पछताता है और अपनी ही मूर्खता के लिए अपने आपको कोसता है, उसी प्रकार जो अज्ञानी मनुष्य धर्मपथ का परित्याग करके, अधर्म के मार्ग पर चलता है, वह मौत के मुँह में पहुँच कर उस गाड़ीवान की तरह ही शोक करता है। वह अज्ञानी जीव मृत्यु के समय आन्तरिक पश्चात्ताप के कारण बुरी तरह छटपटाता है! मौत के भय से त्रस्त होता है। जैसे जुआरी जूए में सर्वस्व हार कर रोता है, उसी प्रकार वह अधर्मी भी रोता है।

किन्तु ज्ञानी और धर्मनिष्ठ पुरुष मृत्यु के सामने उपस्थित हो जाने पर भी दुखी नहीं होते। मृत्यु उनके लिए एक समान्य प्रकृति का नियम ही है!

न संतसंति मरणं, सीलवन्ता बहुस्सुया ।

अर्थात्—प्रशस्त शील का आचरण करने वाले बहुश्रुत ज्ञानीजन सिर पर मौत आ जाने भी घबराते नहीं हैं!

राजा महाबल को मंत्री ने जब मृत्यु का दुःसंवाद सुनाया तो उसे अपने जीवन भर के पापकृत्य याद आने लगे ! वह अपने जीवन के चलचित्र को देखने लगा और ज्यों-ज्यों देखने लगा त्यों-त्यों उसकी घबराहट बढ़ने लगी। उसने कहा-यह गाना-बजाना बंद कर दो ! राग-रंग समाप्त करो !

राजा मंत्री को साथ लेकर एकान्त में गया। उसने कहा-मंत्री, तुमने अत्यन्त दारुण संवाद सुनाया है। मगर जो सत्य है उसकी ओर आँख मींच लेने से भी क्या लाभ है ? महात्मा के वचन अन्यथा नहीं हो सकते, यह मैं जान सका हूँ, किन्तु यह नहीं जान पाया कि अब मुझे क्या करना चाहिए ? समझमें नहीं आता कि आग भड़क उठी है तब कुआ कब खुदेगा और कब उस आग पर पानी डाला जायगा ! तब तक तो आग सब कुछ स्वाहा कर देगी ! हाय ! जवानी में मैं ऐसा अकड़ा रहा कि आदमी को आदमी नहीं समझा, धर्म और धर्मगुरुओं की तरफ दृष्टि नहीं फेरी, गरीबों को सताता रहा, भोग-विलास के कीचड़ में फसा रहा, इन्द्रियों की तृप्ति के लिए ही सारा जीवन लगा दिया ! अब अन्तिम समय में क्या करना चाहिए ? तुमने मुझे समझाने की बहुत चेष्टाएँ कीं, पर दुर्बुद्धिवश मैंने कभी तुम्हारी बात न मानी। अब न जाने कितना भयंकर परिणाम भुगतना पड़ेगा ! परलोक में मेरी क्या दशा होगी ? मैंने सारी पूंजी बर्बाद की है। नयी पूंजी कुछ भी नहीं कमाई। क्या लेकर परलोक की यात्रा करूंगा ?

मंत्री--अन्नदाता, पश्चात्ताप करना बुरा नहीं है। अपने दुष्कर्मों के प्रति पश्चात्ताप होना सत्कर्मों की ओर पहला कदम बढ़ाना है। किन्तु पश्चात्ताप करके रह जाने और जिस

बुराई के लिए पश्चात्ताप किया गया है, उसे दूर करने के लिए आगे पैर न बढ़ाने से कोई विशेष लाभ नहीं है। पश्चात्ताप की सार्थकता अपनी विगत भूलों का परिमार्जन करके सद्-गुणों को अपनाने में है।

राजा—मंत्री, लेकिन ऐन वक्त पर अब क्या किया जा सकता है ?

मंत्री—राजन, धर्म बहुत उदार है। दो घड़ी भी अगर आपने पूर्ण संयम की आराधना कर ली तो बेड़ा पार हो जायगा ! दुर्गति से तो निश्चय ही बच जाएँगे। फिर अभी तो आपके हाथ में पूरा एक मास है !

राजा महाबल मृत्यु की विभीषिका से किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गया। सोच-विचार में उसने आठ दिन और व्यतीत कर दिये।

राजा ने पुत्रों को बुलाकर कहा—यह राज्यभार तुम सँभालो ! रानियों से कहा—तुम भी भगवान् का भजन करो नहीं तो नरक में चली जाओगी।

इसके बाद महाबल ने अपना खजाना खोल दिया और गरीबों तथा याचकों को यथेच्छ दान दिया ! इतना सब करके वह गुरु महाराज की सेवा में उपस्थित हुआ। विनम्र भाव से उनसे निवेदन किया—पतित-पावन, कृपासागर ! मैं आपकी शरण में आया हूँ। आपके पावन चरण भव-सागर से पार उतरने के लिए नौका के समान हैं ! मैं गुरुकर्मी जीव हूँ। मेरा जीवन पाप ही पाप में व्यतीत हुआ है। कैसे मेरा उद्धार

होगा ? भगवन् ! मुझे तारने में आपको कठिनाई तो पड़ेगी, किन्तु मुझ पर दया कीजिए।

मुनिराज ने सहज गंभीर भाव से कहा—भद्र, तारने की शक्ति मुझ में नहीं है। कोई किसी को तार नहीं सकता, उबार नहीं सकता मेरी क्या बिसात है, तीर्थंकर देव भी किसी को तार नहीं सकते। सब जीव अपनी ही योग्यता का विकास करके तरते हैं। आत्मा स्वयं ही तिरता है। देव और गुरु तो निमित्त मात्र हैं। मेरा काम तुम्हारा पथप्रदर्शन करना है। मैं तिरने का मार्ग तुम्हें बतलाऊँगा; किन्तु तिरना तो तुम्हीं को पड़ेगा। तुम्हारा पुरुषार्थ ही तुम्हें तारेगा।

और भद्र पुरुष ! तुम कहते हो कि तुम्हारा जीवन पाप ही पाप में बीता है, किन्तु इस ग्लानि को मन से दूर करके भविष्य को सुधारने की चेष्टा करो। शास्त्र कहता है—

पच्छा वि ते पयाया, खिप्पं गच्छंति अमरभवणाइं।
जेसिं पिओ तवो संजमो अ खंती अ बंभचेरं च॥

जिसे तप, सयम, क्षमा और ब्रह्मचर्य प्रिय है, वे भले ही अपने जीवन के सन्ध्याकाल में संयम की शरण में आये हो, वे भी अमरत्व को प्राप्त कर ही लेते हैं ! जिनके कर्म सर्वथा क्षीण हो जाते हैं, वे मोक्ष पाते हैं और जिनके कर्म शेष रहते हैं वे देवगति पाते हैं।

इस प्रकार शास्त्रकारों ने जीवन के अन्त में धर्म की शरण लेने वालों को भी आश्वासन दिया है। अतएव तुम

चिन्ता न करो। अपनी समस्त शक्तियाँ आत्मकल्याण में नियोजित कर दो।

इसके अनन्तर राजा महाबल ने मुनिराज से दीक्षा धारण की और तत्काल निवेदन किया—गुरुदेव! मै जीवन पर्यन्त अनशन व्रत ग्रहण करना चाहता हूँ। मुझे आज्ञा दीजिए।

मुनिराज—जहासुहं देवाणुप्पिया!

मुनि महाबल अनशन व्रत धारण करके कठोर साधना में लीन हो गये। उन्होंने अपनी आत्मा को अपूर्व शान्ति में प्रविष्ट किया। बाईस दिन के पश्चात् वे शरीर त्याग कर, समाधिमरण करके, दूसरे स्वर्ग में देव-रूप से उत्पन्न हुए।

राजा के उस धर्मनिष्ठ मन्त्री को भी संसार से वैराग्य हो गया था। उसने भी दीक्षा ग्रहण की और चारित्र की आराधना करके, जीवन के अन्त में स्वर्गलाभ किया। संयोग-वश वह भी दूसरे स्वर्ग में उत्पन्न हुआ। इस प्रकार मन्त्री स्वयं भी तिरा और राजा को भी उसने तार दिया।

भाइयो! जिस राजा महाबल की यह कथा आपने सुनी है, उसी का आगे चल कर भगवान् ऋषभदेव के रूप में जन्म हुआ। भगवान् के तेरह भवों में एक भव महाबल का भी है!

अब आप विचार करो कि मृत्यु का क्या भरोसा है? वह किसी भी समय अतर्कित रूप में आ जाती है। अतः—

काल करे सो आज कर, आज करे सो अब।
पल में प्रलय होयगा, फेरि करेगा कब?॥

जब विकराल मृत्यु सामने ताण्डवनृत्य करने लगती है तो बड़े से बड़े हैकड़ीबाज़ भी दीन-हीन हो जाते हैं ! अतएव विवेकशील मनुष्य का सब से पहला कर्त्तव्य यही है कि वह अपने जीवन को ऐसी ऊँची भूमिका पर पहुँचावे कि जहाँ जीवन और मरण एकाकार हो जाएँ ! मृत्यु के पश्चात् उज्ज्वल भविष्य की कल्पना उसे निश्चिन्तता प्रदान कर सके !

इसके लिए, जैसा कि प्रारम्भ मे कहा गया है, प्रभु की शरण में जाना चाहिए और वीतराग देव की वाणी को ही कल्याणी समझ कर उसकी आराधना करनी चाहिए। वीत-राग-वाणी को श्रवण और आराधन करके अभी तक अनन्त जीवों ने अपना कल्याण साधन किया है और भविष्य में जिनका कल्याण होगा, इसी वाणी की आराधना से होगा। इस परमपावनी वाणी की शरण ग्रहण करने वाले परमानन्द के भागी होते हैं।

१०-६-४८ }

## ५

# प्रतिज्ञा-पालन

स्तुतिः—

> नास्तं कदाचिदुपयासि न राहुगम्यः,
> स्पष्टीकरोषि सहसा युगपज्जगन्ति ।
> नाम्भोधरोदरनिरुद्धमहाप्रभावः,
> सूर्यातिशायिमहिमाऽसि मुनीन्द्र ! लोके ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं कि-हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन् ! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय ? प्रभो ! कहाँ तक आपके गुण गाये जाएँ ?

भगवन् ! संसार में सर्वाधिक तेज से सम्पन्न और जगत् के समस्त प्राणियों का महान् उपकार करने वाली वस्तु सूर्य है । अतएव हम आपको सूर्य की उपमा दे सकते हैं ।

किन्तु आपमें और सूर्य में बहुत अन्तर है। प्रथम तो सूर्य कभी उदित होता है और कभी अस्त हो जाता है; किन्तु आप सदैव उदीयमान हैं। आपका अनन्तज्ञान, ज्ञानावरण कर्म के समूल क्षय से आविर्भूत हुआ है। वह अप्रतिहत है, अबाध है। देश और काल की समस्त सीमाओं से अतीत है। सम्पूर्ण लोक और अलोक को तथा भूत, वर्त्तमान एवं भविष्य काल को स्पष्ट रूप से, पूर्ण रूप से जानता है। जगत् का सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थ भी आपकी ज्ञानज्योति से बाहर नहीं है। वह केवलज्ञान क्षायिक होने से कभी अस्त भी नहीं होता। अनन्त काल-सदैव एक-सा प्रकाशमान रहने वाला है।

सूर्य में यह विशेषता कहाँ है? वह सिर्फ रूपी पदार्थों को ही प्रकाशित करता है, अरूपी-अमूर्त्तिक पदार्थों को प्रकाशित करने की शक्ति उसमें नहीं है। यह लोक षड्द्रव्यमयी है। छह द्रव्यों का समुदाय ही लोक कहलाता है। इन छह द्रव्यों में से एक द्रव्य-पुद्गल रूपी है और पाँच द्रव्य अरूपी हैं। अतएव सूर्य छह में से केवल एक ही द्रव्य को प्रकाशित करने में समर्थ है, पाँच द्रव्य सूर्य के अगोचर हैं।

पुद्गल भी मुख्य रूप से दो प्रकार के हैं-अणु और स्कंध। पुद्गल का छोटे से छोटा हिस्सा, जिसके फिर दो हिस्से न हो सकते हों, अणु कहलाता है। अणु अनन्तानन्त हैं। उनमें एक वर्ण, एक गंध, एक रस और दो स्पर्श पाये जाते हैं। अतएव वह भी रूपी हैं। किन्तु सूर्य उन्हें भी प्रकाशित करने में समर्थ नहीं है। इस प्रकार छह द्रव्यों में से एक द्रव्य के एक भेद को वह नहीं प्रकाशित कर सकता। सिर्फ एक भेद स्कंध को ही प्रकाशित कर सकता है।

अब स्कंध को लीजिए। स्कंध सब एक सरीखे नहीं होते। दो परमाणु का पिण्ड भी स्कंध कहलाता है और अनन्तानन्त परमाणुओं का पिण्ड भी स्कंध कहलाता है। दो परमाणुओं का समूह 'द्व्यणुक' कहलाता है और वह सबसे छोटा स्कंध है। अनन्तानन्त परमाणुओं का जगत्‌व्यापी महास्कंध सब से बड़ा होता है। इन दोनों के बीच में कोई संख्यात अणुओं का, कोई असंख्यात अणुओं का और कोई अनन्त अणुओं का स्कंध होता है। ऐसे अनन्त-अनन्त स्कंध इस विश्व में विद्यमान हैं। सूर्य इन समस्त स्कंधों को भी प्रकाशित करने में असमर्थ है। द्व्यणुक को तो हम देख ही नहीं सकते; अनेक महास्कंधों को भी नहीं देख पाते।

इस प्रकार द्रव्य की अपेक्षा देखा जाय तो सूर्य जगत् में विद्यमान अत्यल्प द्रव्य को ही प्रकाशित कर पता है। उनका अधिकांश भाग सूर्य के अगोचर ही रह जाता है, जब कि भगवान् की दिव्य ज्ञानज्योति में रूपी-अरूपी, सूक्ष्म और स्थूल सभी द्रव्य समान रूप से उद्‌भासित होते हैं। कोई द्रव्य ऐसा नहीं जिसे वह प्रकाशित न करे।

क्षेत्र की अपेक्षा दोनों की तुलना करने चलते हैं तो भी बहुत अन्तर मालूम होता है। क्षेत्र का अर्थ है आकाश। आकाश दो प्रधान भागों में बँटा हुआ है-अलोकाकाश और लोकाकाश। जिस भाग में जीव, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, पुद्‌गल आदि छहों द्रव्य मौजूद हैं वह लोकाकाश है और जहाँ अकेला आकाश है-आकाश के अतिरिक्त कोई भी दूसरा द्रव्य नहीं है वह अलोकाकाश कहलाता है। लोकाकाश सिर्फ चौदह राजू परिमित है। उसके चारों ओर तथा ऊपर और नीचे सभी

तरफ अनन्तानन्त अलोकाकाश है। अलोकाकाश का कहीं अन्त नहीं है। इसकी तुलना में लोकाकाश का भाग क्षुद्र, अतिक्षुद्र है, नगण्य है। समुद्र की तुलना में एक बिन्दु के बराबर भी नहीं है! इस क्षेत्र को क्या सूर्य प्रकाशित करता है?

पहले ही कह चुके हैं कि आकाश अरूपी है, अतएव सूर्य उसे प्रकाशित करने में असमर्थ है। वह न लोक को प्रकाशित कर सकता है और न अलोक को ही। फिर भी उपचार करके, जिस क्षेत्र में स्थित स्थूल पदार्थों को सूर्य प्रकाशित करता है, उस क्षेत्र को प्रकाशित करना कहा जाता है। इस तरह उपचार से क्षेत्र का प्रकाशित होना मान लेने पर भी सूर्य कितने से क्षेत्र को प्रकाशित कर पाता है? अलोकाकाश में तो सूर्य की गति है ही नहीं, सम्पूर्ण लोक में भी नहीं है। लोक के तीन विभाग हैं-ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक। सूर्य मध्यलोक में है, न ऊर्ध्वलोक में है न अधोलोक में है। मध्यलोक में भी असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं। उन सब में छोटा जम्बुद्वीप है। उसमें भी दो सूर्य हैं। एक दिन एक सूर्य का और दूसरे दिन दूसरे सूर्य का उदय होता है। इसी से समझ लीजिए कि एक-एक सूर्य में, क्षेत्र की अपेक्षा कितनी प्रकाशसामर्थ्य है! वास्तव में सूर्य न कुछ के बराबर ही क्षेत्र में अपना प्रकाश फैलता है।

इस प्रकार सूर्य क्षेत्र को कतई प्रकाशित नहीं कर सकता अमुक क्षेत्र में स्थित कुछ पदार्थों को ही प्रकाशित करता है। किन्तु भगवान् लोक और अलोक को भी जानते हैं उनके केवल ज्ञान से आकाश का एक भी प्रदेश अप्रकाशित नहीं रह जाता।

काल के आधार पर विचार करते हैं तब भी यही बात सामने आती है। सूर्य उदित होने से लेकर अस्त होने तक के

इनमें से दो ज्ञान सभी संसारी जीवों को प्राप्त रहते हैं। अन्त के तीन सब को नहीं होते। अवधिज्ञान मनुष्यों को तपस्या आदि विशेष गुणों को प्राप्त कर लेने पर ही प्राप्त होता है। मनःपर्ययज्ञान उच्च श्रेणी के लब्धिधारी योगियों को ही होता है और केवलज्ञान वीतराग महात्माओं को प्राप्त होता है। काल में प्रकाश करता है, किन्तु भगवान् की ज्ञानज्योति निरंतर, एक क्षण के लिए भी, कभी अस्त हुए बिना प्रकाश करती रहती है। सूर्य, अपने उदय के समय में भी जब राहु से ग्रस्त हो जाता है, तब प्रकाश करने में असमर्थ हो जाता है, परन्तु भगवान् की ज्ञानज्योति को कोई भी राहु नहीं ग्रस सकता। सूर्य के सामने बादल आड़े आ जाते हैं, तब भी उसका प्रकाश क्षीण हो जाता है, मगर भगवान् की ज्योति का प्रतिरोध करने के लिए कोई मेघ नहीं है।

भाव की अपेक्षा से जब विचार करते हैं, तब तो सूर्य और भगवान् की ज्योति में और भी अधिक अन्तर दिखलाई पड़ता है। बेचारा सूर्य पाँच अरूपी द्रव्यों के किसी भी भाव को प्रदर्शित करने में सर्वथा असमर्थ है। पुद्गल द्रव्य के भी अनन्तभावों में से रूप को या आकार आदि कुछ ही नगण्य भावों को प्रकाशित कर पाता है। मगर भगवान् का ज्ञान समस्त भावों को प्रकाशित करता है।

इस तरह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से विचार करते हैं तो भगवान् की अलौकिक, असीम, अनन्त ज्ञानज्योति की तुलना में सूर्य अतिक्षुद्र प्रतीत होने लगता है।

इस कथन का अभिप्राय यह नहीं है कि सूर्य कोई अनावश्यक और अनुपयोगी वस्तु है। सूर्य जगत् के चर-अचर

प्राणियों को जीवन देने वाला है। सूर्य की किरणें प्राप्त न हों तो न तो विविध प्रकार की वनस्पतियों की उत्पत्ति और विकास हो सके, न हमारा जीवन ही सुरक्षित रह सके। अतएव सूर्य जगत् का पोषक है।

कहा जा सकता है कि सूर्य आँख वालों के लिए तो काम की चीज़ है, पर अंधों को क्या लाभ पहुँचाता है। भले ही अंधा सूर्य के प्रकाश में न देख सकता हो, किन्तु प्रकाश होगा तो सूझता अंधे से तो नहीं टकराएगा!

एक अंधा हाथ में लालटेन लेकर पानी लेने गया। जब लौट रहा था तो उसे एक सूझता आदमी मिला। उसने पूछा सूरदास! तुम क्यों वृथा तेल खर्च करते हो? अंधे ने उत्तर दिया—तुम्हारे जैसों के लिए! तुम जैसे सामने आ जाते और मेरे हाथ में लालटेन न होती तो तुम मुझ से टकरा जाते!

अभिप्राय है कि सूर्य प्राणी मात्र का उपकारक है। वह सर्वोत्तम भौतिक प्रकाश है। इसी प्रकार भगवान् भी जगत् के महान् उपकारक हैं। वे जगत् के रक्षक और पोषक है। अहिंसा सत्य आदि का उपदेश देकर प्रभु ने प्राणियों का अनन्त कल्याण किया है। तत्त्वज्ञान की लोकोत्तर ज्योति देकर हमारे अज्ञान अंधकार का अन्त किया है।

सूर्य अच्छी और बुरी-दोनों जगह प्रकाश फैलाता है। वह ऊँच नीच का भेद नहीं करता। चाण्डाल की टूटी झोंपड़ी में जैसा प्रकाश फैलाता है, वैसा ही ब्राह्मण के मकान में। राजा और रंक का भी उसके यहाँ भेद नहीं है। वह जात पांत का विचार नहीं करता। इसी प्रकार दीनानाथ पतित-

पावन वीतराग भगवान् भी किसी भी प्रकार के भेदभाव को स्थान न देकर, प्राणी मात्र को आत्मा के समान समझ कर उपदेश देते हैं। उनके परम पावन दरबार में मनुष्य मात्र को नहीं, पशुओं को भी वैसा ही स्थान प्राप्त होता है, जैसा देवताओं को।

पतित से पतित, चोर, डाकू और हत्यारे भगवान् के चरणों की शरण में आये और भगवान् ने उन पर अनन्त करुणा की वर्षा की। उन्हें तत्त्व का मर्म समझाया। भगवान् के वचनामृत का पान करके उनकी अपावन आत्मा पावन हो गई। जीवन बदल गया, चित्त की वृत्तियाँ कुछ की कुछ हो गई और वे कोयले से हीरा बन गए। पारस का संस्पर्श होते ही लोहा सोना बन गया। शास्त्रों में ऐसे अनेक वृत्तान्त मौजूद हैं। अर्जुन माली जैसे हिंसक महामुनि बन गए और जनता की घोर घृणा को सहन करके, समभाव पूर्वक अनेक यातनाएँ भोग कर उसी भव में अक्षय आनन्दमय मोक्ष के अधिकारी बने।

प्रभव की कथा प्रसिद्ध है! एक ज़माने का खतरनाक चोर प्रभु की शरण में पहुँचकर क्या से क्या हो गया? दानव से देवता बनाने की कला में कुशल प्रभु की उपासना करते ही वह महात्मा बन गया। और फिर प्रभु का उत्तराधिकारी बनने का गौरव प्राप्त किया!

असल बात तो यह है कि कोई मनुष्य कितना ही नीच और अधम क्यों न प्रतीत होता हो; परिस्थितियों के चक्कर में पड़ कर कितनी ही नीची स्थिति पर पहुँच गया हो, फिर भी उसकी आत्मा का मूल स्वरूप तो उज्ज्वल ही है। [illegible]

की आत्मा समान गुणों की धारक है। नरक का नारकी, निगोद का निकृष्ट एकेन्द्रिय प्राणी और खून से अपने हाथ रंगे रहने वाला हत्यारा-सब स्वरूप से उसी परमात्मा के समान हैं, जिसमें अनन्त ज्योति उद्भूत हो गई है। यही कारण है उन्हें जब अनुकूल सामग्री मिलती है तो वे सन्मार्ग पर आ जाते हैं और अपना आत्मविकास कर लेते हैं।

जैन धर्म ने परमात्मपद को किसी एक व्यक्ति के लिए रिज़र्व नहीं कर दिया है। यह बात नहीं कि जो परमात्मा है वही परमात्मा है और कोई दूसरी आत्मा परमात्मा का पद नहीं पा सकती। जैन धर्म तो वह महान रसायन है, जिसके सेवन से आत्मा, परमात्मा बन जाती है। अन्य धर्मों ने आत्मा की अन्तिम स्थिति के संबंध में तरह-तरह की और अनोखी-अनोखी कल्पनाएँ की हैं, किन्तु जैन धर्म की मान्यता अत्यन्त उज्ज्वल है, आश्वासन प्रदायिनी है और युक्तिसंगत भी है।

भगवान् की वाणी जन्म-मरण के अनादिकालीन प्रवाह को समाप्त कर देने वाली है। जो लोग आत्मा का पुनर्जन्म नहीं मानते उनकी बात जाने दो। तुम उनकी बातों पर विश्वास मत करो। वे स्वयं भ्रम में हैं और दूसरों को भी भ्रम में डाल रहे हैं। अनेकों प्रमाण आत्मा के पुनर्जन्म के साधक उपलब्ध होते हैं। अतएव यह मत समझना कि यहाँ से मरे बाद खात्मा हो गया। सभी लोग मानते हैं कि फलां आदमी मर कर जिंद या भूत बन गया। अगर पुनर्जन्म न होता तो वह जिंद कैसे बना ?

भाइयो ! संसार में फल की जो विचित्रता देखी जाती

है, समान साधन होने पर भी किसी को सफलता और किसी को असफलता मिलती है, कोई लाभ और कोई हानि उठाता है, इस सब का कारण क्या है ? बाहरी कारण तो सब एक-से दिखाई देते हैं, फिर भी कार्य में भिन्नता है तो कोई अदृश्य कारण होना चाहिए। वह अदृश्य कारण पूर्वोपार्जित कर्म ही है। आत्मा पुनर्जन्म न धारण करती हो तो पूर्वोपार्जित कर्म कैसे फल दे सकते हैं ?

एक आदमी जन्मान्ध होता है और दूसरा सूझता। इस भेद का कारण आप क्या समझते हैं ? बड़ा होने पर तो कदाचित् पाप कर सकता है, किन्तु जन्मान्ध ने क्या पाप किये हैं, जिससे उसकी ऐसी दशा हुई ? इससे यही सिद्ध होता है कि उसने पूर्वजन्म में पाप किये थे।

पूर्वजन्म को कैसे मानें ? अरे भाई, अंधे को देखकर मान लो !

लबालब जल से भरे तालाब को देखकर अनुमान किया जाता है कि पहले पानी की वर्षा अवश्य हुई है। इसी प्रकार दुनिया में किसी को सुखी और किसी को दुखी देखकर ज्ञात होता है कि पूर्वजन्म के पुण्य और पाप इस जन्म में काम आते हैं-फल देते हैं।

कोई आदमी कमज़ोर है तो उसे देखकर सोचते हो कि यह पहले बीमार अवश्य रहा है। इसी प्रकार किसी को दुखी देखकर उससे पाप का भी अनुमान होता है।

आगरे में एक अग्रवाल भाई के घर एक लड़की का जन्म हुआ। उसका नाम मैना था। एक बार, जब वह लड़की

बड़ी हो चुकी थी उसके पिता उसे हमारे पास लाए। बोले—महाराज, इसकी बातें सुनिए।

मैं ने पूछा—तू पहले कौन थी?

लड़की ने कहा—मैं पहले फलां मुहल्ले में मुसलमान थी। मेरे तीन लड़के थे और उनकी बहुएँ थीं। बहुओं से मेरी नहीं बनती थी। मैं एक दिन कुए पर गई। पानी खींचने लगी तो बहुओं ने मुझे धक्का दे दिया। मैं मर कर यहाँ जनमी हूँ।

मैंने उससे पूछा—तू सिया, सुन्नी या पठान थी?

लड़की—शेख थी।

मैं—तुझे इस्लाम मज़हब की कोई बात याद है?

लड़की—हाँ, नमाज़ पढ़ना याद है।

उसने नमाज़ पढ़ कर सुनाई। इससे साफ जाहिर हो जाता है कि पुनर्जन्म है।

कहा जा सकता है कि अगर उस लड़की को अपने पहले जन्म का स्मरण हुआ तो आम तौर पर सभी को क्यों नहीं होता?

इसका उत्तर यह है कि पूर्वजन्म की बात छोड़िए, इसी जीवन की सब घटनाएँ सब को याद नहीं रहतीं। सब की स्मरणशक्ति समान नहीं होती। किसी-किसी को कई वर्षों की बातें याद रह जाती हैं और कोई-कोई इतने भुलक्कड़ होते हैं एक-आध घंटे में ही भूल जाते हैं। अतएव एक को पूर्वजन्म

का स्मरण होने से सभी को स्मरण होना चाहिए, यह नियम नहीं बनाया जा सकता।

प्रश्न—स्मरण रहने का कोई नियम नहीं है? जब सब की आत्मा समान है तो फिर क्या कारण है कि सब को समान स्मरण नहीं रहता?

उत्तर—स्मरण का भी नियम है। जैनशास्त्र में ज्ञान के पाँच भेद बतलाए गए हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान।

प्रश्न—पूर्वजन्म का स्मरण तो इन पाँच ज्ञानों में से किसी भी ज्ञान में सम्मिलित नहीं हुआ?

उत्तर—कोई भी ज्ञान इन पाँच से बाहर नहीं है। ज्ञान के यह पाँच भेद स्थूल हैं। इनके भेद-प्रभेद बहुत से हैं। मति-ज्ञान के ४ भेद हैं, २८ भेद हैं, ३३६ भेद भी हैं, और ३४० भेद भी हैं। और यह सब भेद भी स्थूल दृष्टि से हैं। सूक्ष्मता में उतरें तो असख्य और अनन्त भेद भी होते हैं! पूर्वजन्म का स्मरण मतिज्ञान में ही सम्मिलित है।

प्रश्न—स्पष्ट करके समझाइए।

उत्तर—मतिज्ञान के मूल भेद चार है—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा।

छद्मस्थ जीवों को सर्वप्रथम दर्शनोपयोग होता है। दर्शनोपयोग में अत्यन्त सामान्य-सत्ता मात्र का प्रतिभास होता है। वह किसी वस्तु की सत्ता को ही जान पाता है, उसकी किसी विशेषता को नहीं। नाम, जाति, द्रव्य, गुण,

शब्द आदि की कल्पना इसमें नहीं होती। बस इतना ही मालूम होता है कि—'है।'

दर्शनोपयोग के पश्चात् ही ज्ञानोपयोग प्रारम्भ होता है। वह भी क्रम से आगे बढ़ता है। अर्थात्—पदार्थ की विशेषताओं को क्रमशः जानता है। उस क्रम को प्रधान रूप में चार भागों में बाँट दिया गया है—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा।

दर्शनोपयोग से किसी वस्तु की सत्ता मात्र जानी थी। फिर अवग्रह हुआ तो जान पड़ा कि यह मनुष्य है। अवग्रह के पश्चात् ईहाज्ञान होता है। वह उस वस्तु की और अधिक विशेषता को जानने की ओर मुड़ता है, जैसे यह मनुष्य भारतीय होना चाहिए। ईहा के बाद अवायज्ञान होता है। अवायज्ञान में पदार्थ के विशेष धर्म का निश्चय हो जाता है।

अवायज्ञान पदार्थ का निश्चय तो कर देता है, मगर समर्थ नहीं होता कि कालान्तर में स्मरण को उत्पन्न कर सके। स्मरण को उत्पन्न करने की योग्यता धारणा ज्ञान में ही होती है।

अवायज्ञान के बाद आत्मा में यदि ज्ञान के संस्कार मजबूत हो जाते हैं तो अप्रकट रूप में वह संस्कार बहुत लम्बे समय तक टिके रहते हैं। यही धारणा है। जब योग्य निमित्त मिलते हैं तब वह जमे हुए संस्कार प्रकट हो जाते हैं और तभी स्मरण होता है।

आशय यह निकला कि जब तक कोई ज्ञान अवग्रह, ईहा और अवाय का रूप धारण करता हुआ धारणा की कोटि तक नहीं पहुँचता, तब तक उससे स्मरण नहीं हो

सकता। वह विस्मृति के अनन्त तम में विलीन हो जाता है। धारणा की कोटि तक ज्ञान पहुंच जाय तभी उससे स्मरण हो सकता है। वह भी यदि योग्य निमित्त कारण मिल जाएँ तो होता है, अन्यथा नहीं होता।

दर्शन, अवग्रह, ईहा आदि का क्रम अखंडित है। चाहे कोई सोता हो या जागता हो, सावधान हो या असावधान हो, हर हालत में ज्ञान का क्रम यही होगा।

कल्पना करो, एक आदमी सो रहा है। उसे किसी ने आवाज़ दी। वह पहली आवाज़ में नहीं जागा तो दूसरी और जोर की आवाज़ लगाई गई। पहली आवाज़ के पुद्गल थोड़े थे। उन्होंने पूरा असर नहीं किया। दो-चार आवाज़ लगाने पर वे पुद्गल असर करने वाले हुए। उन्होंने सोते मनुष्य के कान में प्रवेश करके उसे जगा दिया।

प्रश्न—क्या शब्द कान में घुसते हैं ?

उत्तर—हाँ। हालांकि हम उनका घुसना देख नहीं पाते, किन्तु वे घुसते अवश्य हैं। न घुसें तो मनुष्य की नींद खुले कैसे ?

तो जैसे सोने वाले को धीरे-धीरे क्रम से ज्ञान होता है, उसी प्रकार जागने वालों को भी इसी क्रम से ज्ञान होता है। सोने और जागने वाले में अन्तर यही है कि जागने वाले को झटपट ज्ञान हो जाता है और सोने वाले को धीरे-धीरे।

इस प्रकार धारणा ज्ञान चौथे नंबर पर है। धारणा ज्ञान होने पर दीर्घ काल तक भी संस्कार बने रह सकते हैं। फोनोग्राफ बाजे की चूड़ी में राग भरा हुआ है। किन्तु वह यों अनायास ही नहीं निकलती। बाजे में चाबी भरी जाती है,

सुई लगाई जाती है, तब उसमें से वैसी ही आवाज निकलती है, जैसी गाने वाले ने गाई थी। चूड़ी में वह आवाज़ जमा न होती तो सुई लगानें पर भी वह कैसे निकलती ?

इसी प्रकार अपने भीतर भी पहले जन्म की और उससे भी पहले जन्म की अनेक घटनाओं के संस्कार जमा हैं। जैसे-जैसे निमित्त मिलते हैं, उसी प्रकार उनका स्मरण आता है।

यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि आत्मा में जमे हुए संस्कार समय पाकर खिरते रहते हैं। कभी स्मरण में आते हैं और कभी नहीं भी आते हैं। संस्कार यदि गाढ़े हुए और निमित्त मिल गए तो स्मरण में आ जाते हैं अन्यथा नहीं आते।

इस स्पष्टीकरण से समझ मे आ जाएगा कि सभी लोगों को पूर्वजन्म का स्मरण क्यों नहीं होता ? असल बात योग्यता की है। जिस जीव में जैसी योग्यता होनी है, उसमें वैसा ही ज्ञान उत्पन्न होता है। इसी जीवन में विभिन्न मनुष्यों में विभिन्न प्रकार की योग्यताएँ देखी जाती हैं।

फ्रांस की बात है। किसी मालदार की लड़की बीमार हो गई। उसने बहुत इलाज़ कराया, परन्तु लाभ नहीं हुआ। यही नहीं, बल्कि तबीयत अधिकाधिक खराब होती गई। एक बार वह इतनी शिथिल हो गई कि सब ने समझ लिया—लड़की मर गई ! किन्तु थोड़ी देर में वह होश में आई। आँखें टमकाई। फिर इलाज शुरु कराया। अब की बार वह दैववश एकदम चंगी हो गई। किन्तु चंगी होने के साथ ही साथ उसमें एक विलक्षण परिवर्त्तन और हो गया। वह जन्म से परिचित फ्रांस

की भाषा को तो भूल गई और बिना सिखाए बारह देशों की भाषा उसे याद आ गई।

इस परिवर्त्तन को देखकर लोग चकित रह गए। लड़की के पिता ने बड़े-बड़े डाक्टरों को इकट्ठा किया और पूछा—यह भाषाएँ इसे कैसे आ गईं ? मगर डाक्टरों के पास इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं था। इस प्रश्न का सही उत्तर तो वही दे सकता है, जिसने वीतराग भगवान् के वचनों का श्रवण और मनन किया हो। यह चिकित्सा विज्ञान का विषय नहीं, तत्त्व-ज्ञान का विषय है। यूरोप के डाक्टर आध्यात्मिक को तत्त्व कैसे समझ सकते हैं ? चौबीसों तीर्थंकर भारतवर्ष में हुए हैं। विलायत में एक भी नहीं हुए। आत्मा के संबंध में यूरोप में जो भी थोड़ी-बहुत जानकारी है, वह वहाँ के लोगों की उपज नहीं है। वह भारत से ही लिया हुआ ज्ञान है। इतिहासज्ञों का मत है कि ईसाई धर्म के प्रवर्त्तक ईशु मसीह ने भारत में आकर तत्त्वज्ञान सीखा था।

हाँ, तो जब डाक्टरों से पूछा गया तो उन्होंने यह बात ठहराई कि फ्रांस की भाषा के आगे पर्दा आ गया है और दूसरी भाषाओं के आगे से पर्दा हट गया है।

उन डाक्टरों को क्या पता कि यह लड़की इसी जन्म में एकदम नवीन नहीं बन गई है। पिछले जन्मों में न जाने कहाँ-कहाँ उत्पन्न हुई है और किस-किस देश की भाषाएँ सीख चुकी है। उन सब भाषाओं को सीखने वाला उसका शरीर नहीं था, उसकी आत्मा थी। शरीर छूटते रहे और नये मिलते रहे, मगर आत्मा वही की वही बनी रही। भाषाज्ञान के संस्कार

आत्मा में थे किन्तु दबे हुए थे। निमित्त मिला तो वे प्रकाश में आ गए।

इस प्रकार के संस्कार प्रायः नौ सौ जन्मों तक बने रहते हैं। आत्मा के भीतर तरह-तरह की अद्भुत शक्तियाँ छिपी हैं। उन शक्तियों का विकास किया जाय तो अपूर्व चमत्कार नज़र आने लगता है।

मोटे तौर पर संसारी जीवों को दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है-(१) समनस्क अर्थात् मन वाले और (२) अमनस्क अर्थात् बिना मन के। जो जीव बिना नर-मादा के उत्पन्न होते हैं-मिट्टी और पानी आदि का संयोग पाकर पैदा हो जाते हैं, उनके मन नहीं होता। नर-मादा के संयोग से उत्पन्न होने वालों में ही मन होता है। मनुष्य, गाय, भैंस, घोड़ा आदि जीवों में मन पाया जाता है। लट, चिउंटी, मकोड़ा तथा बिच्छू आदि में मन नहीं होता।

जो जीव समनस्क हैं, उन सब में भी समान श्रेणी का मन नहीं पाया जाता। किसी को अधिक विकसित होता है और किसी का कम। विकास की यह तरतमता अनेक कारणों पर निर्भर करती है। उम्र और वातावरण आदि मुख्य कारण हैं। बालक और प्रौढ़ पुरुष की मानसिक स्थिति में जो अन्तर दिखाई देता है, उसका मुख्य कारण उम्र का भेद है। जंगली आदमी और सुशिक्षित परिवार के किसी सदस्य के मानसिक विकास में जो फर्क होता है, उसका कारण वातावरण है।

मतलब यह है कि वातावरण, शिक्षा और संस्कार यदि

अनुकूल मिल जाएँ तो मन का अधिक विकास हो जाता है और प्रतिकूल मिलें तो विकास नहीं होता।

तोता पाला जाता है और पढ़ाया जाता है तो राम-राम बोलने लगता है। जंगली तोता नहीं बोल सकता। इसका कारण यही है कि एक को शिक्षा मिली है, दूसरे को नहीं। शिक्षा पाकर मनुष्य का मन भी अधिक शक्तिशाली बन जाता है। सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्त्व का गहराई से चिन्तन करने वाला मन प्रारंभ से ही वैसा नहीं होता। धीरे-धीरे उसमें यह शक्ति आई है।

उत्तराध्ययन सूत्र के १३ वें अध्ययन में जिक्र आया है कि चित्त मुनि ने ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को पाँच जन्म का वृत्तान्त कहा। यह दोनों एक साथ जनमे और मरे थे। छठे जन्म में दोनों का वियोग हो गया। एक राजा हुआ और दूसरा सेठ का लड़का हुआ।

यह जातिस्मरण का एक उदाहरण है। जातिस्मरण के अनेक निमित्त हैं। उनमें संतसमागम भी एक निमित्त है।

भाइयो! आपके यहाँ अव्वल तो साधु आते ही कम हैं और कदाचित् आ जाते हैं तो आपमें से कई पाली और जोधपुर चल देते हैं। ऐसा न करके आपको साधुओं से लाभ उठाना चाहिए। लोक में कहावत है—

भाग्यहीन को ना मिले, भली वस्तु का योग।
जब दाखें पकने लगें तो, होत काग गल रोग॥

आप ऐसे भाग्यशाली हैं कि आपको लोभ लालच से सर्वथा अछूते साधु गुरु के रूप में मिले हैं। उनके आने पर आपको कुछ भी असुविधा नहीं होती। मकान मिल गया तो ठीक है, अन्यथा वे श्मशान में बनी हुई छतरी मे ही ठहर जाते हैं। खाने का कुछ बोझ नहीं है, यह बात तो आप जानते ही हैं। वे भिक्षा करके थोड़ा थोड़ा अनेक घरों से साधारण भोजन पानी लेते हैं। उन्हें दक्षिणा नहीं चाहिए, जागीर नहीं चाहिए, तुम्हारी सम्पत्ति नहीं चाहिए। जैन साधु संसार से कुछ लेने को नहीं, सब कुछ देने को हैं। वे त्याग के नमूने हैं। ऐसे निर्लोभ गुरु मिल जाएँ और उनसे आप लाभ न उठावें तो इसमें आपका ही दोष होगा।

साधु वीतराग देव की परमकल्याणकारिणी वाणी सुनाते हैं। वह वाणी इस लोक और परलोक को सुधारने वाली है और उत्कृष्ट पुण्य के उदय से प्राप्त होती है। वीतराग वाणी के श्रवण से ही पाप-पुण्य की पहचान होती है।

सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं।

अर्थात्–ज्ञानीजनों के वचन सुनने से ही कल्याण–पुण्य का पता चलता है और सुनने से ही पाप का परिचय होता है।

तुम ज्ञान सुनी लो सद्गुरु आये हैं बड़ी दूर से।

पैदल भ्रमण करते हुए, देश, देशान्तर के भव्य जीवों को प्रतिबोध देते हुए सन्त विचरते रहते हैं। जब वे आवें तो अपना अहोभाग्य समझ कर उनसे अपने आत्मकल्याण का

मार्ग पूछो। अपने जीवन को पवित्र और उच्च बनाने के उपाय समझो। सोच समझ कर गुरु बनाओ और जिसे योग्य समझ कर एवं परीक्षा करके गुरु बना लिया, उसके उपदेश का अनुसरण करो। उसी के बतलाये मार्ग पर चलो। बीच में अपनी टांग न अड़ाओ। ऐसा करोगे तो गड़बड़ हो जाएगी। अपना दिल, दिमाग और देह गुरु के चरणों में अर्पित कर दो। अपना समग्र उत्तरदायित्व विसर्जित करके गुरु को सौंप दो। वह तुम्हारे कल्याण का चिन्तन करेंगे। तुम्हारा काम उनके आदेशों का अनुसरण करना मात्र होना चाहिए।

सौ रुपये गज का कपड़ा खरीद कर एक आदमी दर्जी के पास गया और बोला-कोट बना दो। दर्जी ने नाप लिया और कैंची उठा कर कपड़ा काटने लगा। यह देख कर वह आदमी घबराता है और कहता है-अरे, यह क्या करते हो ? कितना कीमती कपड़ा है और इसकी यह दुर्दशा कर रहे हो ? तब दर्जी बोला-मैं तो काटूंगा, छाटूंगा और सब कुछ करूंगा। तुम्हें कोट पहना दूंगा। अगर अपनी अक्ल लड़ाते हो तो तुम्हारी मर्जी ! यह ले जाओ अपना कपड़ा !

भाइयो! कोट तो तभी बनेगा जब दर्जी की इच्छानुसार कपड़ा काटने दिया जायगा। तो जैसे कपड़े की व्यवस्था है, वैसे ही जीव की व्यवस्था है। आप स्वर्ग जाना चाहते हैं और मोक्ष पाना चाहते हैं, किंतु अपनी इच्छा के अनुसार ही चलना चाहते हैं तो यह नहीं होने का ! साधु आपसे यही कहेंगे कि स्वर्ग मोक्ष जाना है तो हमारी इच्छा के अनुसार चलना पड़ेगा। आप मनचाही प्रवृत्ति करें और मोक्ष पाना चाहें, तो आपको निराशा ही होगी। हाँ, साधु द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलोगे तो

अवश्य आपका कल्याण होगा। जिन्होंने साधु का उपदेश माना वे निहाल हो गए!

एक मच्छीमार मच्छी मारने जा रहा था। रास्ते में उसे एक महात्मा मिल गए। उसके कंधे पर जाल पड़ा देखकर महात्मा समझ गये कि यह कहाँ जा रहा है! उन्हें उससे स्वार्थ-सोधन तो करना नहीं था, फिर वे क्यों खुशामद करते? उन्होंने मच्छीमार से साफ कहा—

जीवहनन का मोटा टोटा,
खाने को नहीं मिलेगा रोटा।
नरक-बीच में खावे सोटा,
ले ले दयाधर्म का ओटा॥

महात्मा लोकव्यवहार में निष्णात थे और मनोविज्ञान के वेत्ता थे। अतएव उन्होंने अपना पाण्डित्य न प्रदर्शित करते हुए स्थूल भाषा में ही मच्छीमार को समझाया कि मच्छी मारने का धंधा बहुत टोटे का धंधा है। यह धंधा करेगा तो तुझे जन्म भर रोटियों का घाटा रहेगा। मरने के बाद नरक में डंडे खाने पड़ेंगे। अतएव तू मछलियों को मारना छोड़ दे।

मच्छीमार ने कहा—महाराज, मेरी जाति ही मच्छीमार कहलाती है! ईश्वर ने मछलियाँ मारने के लिए ही हमें पैदा किया है।

ईश्वर को जगत् का कर्त्ता-हर्त्ता मानने से ईश्वर का स्वरूप तो बिगड़ ही जाता है, किन्तु एक बहुत बड़ी हानि यह होती है कि लोग ईश्वर की ओट लेकर अपने कुकृत्यों का

पोषण करते हैं। वे समझने लगते हैं कि जब ईश्वर की इच्छा के बिना एक भी पत्ता नहीं हिल सकता तो मैं जो कुछ कर रहा हूँ वह भी ईश्वर की ही इच्छा से कर रहा हूँ। मुझे ईश्वर की अनुमति प्राप्त है! इस प्रकार की भ्रमपूर्ण धारणा ईश्वर-कर्त्तावाद के कारण उत्पन्न होती है।

मच्छीमार भी इसी भ्रम का शिकार था। वह समझता था कि ईश्वर ने उसको मच्छी मारने के लिए ही बनाया है। बेचारे भोले मच्छीमार ने अपने हृदय का भाव छिपाया नहीं। जो मन में था, कह दिया। यह उसकी सरलता थी।

मुनि ने उससे कहा—ऐसा है तब तो मानना चाहिए कि ईश्वर ने काँटे भी पैरों में चुभने के लिए बनाये हैं। फिर काँटों से बचने के लिए जूते क्यों पहनते हो? ज़हर खाने के लिए बनाया है तो खाते क्यों नहीं हो?

मच्छीमार ने कहा—महाराज, ऐसा तो नहीं हो सकता!

मुनि—तो जैसे काँटों से बचने के लिए जूते हैं, उसी प्रकार पाप से बचने के लिए शास्त्र हैं। शास्त्र जीवहिंसा का निषेध करते हैं। ईश्वर की आज्ञा ही शास्त्रों में लिखी है। इससे यह बात स्पष्ट है कि तुम ईश्वर की इच्छा से पाप नहीं करते, वरन् अपने दिल से पाप करते हो।

मच्छीमार—महाराज, यह तो हमारा जाति धर्म है। कैसे छोड़ दूं?

मुनि—भाई, मुझे यह दिखलाओ कि तुम्हारे शरीर पर जाति की छाप कहाँ लगी है? जाति तो मनुष्यों ने अपने सुभीते

के अनुसार बना ली है और फिर हिंसा का पाप करना किसी भी जाति के लिए उचित नहीं है।

मच्छीमार—मेरे पास दूसरा कोई धंधा नहीं है। मछलियाँ न मारूँ तो बाल-बच्चे भूखे मर जाएँगे!

मुनि—यह भी तेरा भ्रम है। दुनिया के सभी लोग क्या मछलियाँ मार-मार कर ही पेट पालते हैं। जरा यह भी तो सोचो कि संसार में मछलियाँ मारने वाले या दूसरे प्रकार की हिंसा के काम करने वाले अधिक सुखी और सम्पन्न हैं अथवा हिंसा न करने वाले? फिर क्या कारण कि तुम्हीं भूखे रह जाओगे!

इतना समझाने पर भी मच्छीमार समझा नहीं। आजीविका की चिन्ता के कारण वह मुनि की बात स्वीकार न कर सका। तब मुनि ने कहा—अच्छा, एक बात कबूल कर ले।

मच्छीमार—कौन सी?

मुनि—पहली बार में जो मछली तेरे जाल में आवे, उसे छोड़ देना!

मच्छीमार ने यह प्रतिज्ञा कर ली। अपढ़ लोग या तो प्रतिज्ञा लेते नहीं, ले लेते है तो उसका दृढ़ता से पालन करते हैं।

मच्छीमार वहाँ से चल दिया। दरियावा के किनारे आकर उसने दरियाव में जाल फैंका तो एक बड़ी-सी मछली फँसी। उसने सोचा—आज प्रतिज्ञा न ली होती तो पहली बार में ही काम बन जाता! मगर जब प्रतिज्ञा ली है तो उसे

तोड़ना ठीक नहीं है। यह सोचकर उसने उस मछली को छोड़ दिया। फिर दूसरी जगह जाल फैंका तो फिर वही मछली आ गई ! उसने फिर छोड़ दी और तीसरी जगह जाल डाला। मगर दैववश फिर भी वही मछली फँसी।

इस आकस्मिक घटना का मच्छीमार के हृदय पर कुछ अनोखा-सा प्रभाव पड़ा। उसने सोचा—आज मेरे भाग्य में सफलता नहीं है ! ऐसा सोचकर वह घर लौट गया।

मच्छीमार की पत्नी बड़ी कर्कशा थी। बात-बात में वहकना और वचन बाण चलाना उसकी आदत थी। मच्छीमार ज्यों ही घर पहुँचा कि उसने पूछा—आज क्या लाये हो ? उत्तर में उसने प्रतिज्ञा लेने की और बार-बार उसी मछली के फँसने की बात कह सुनाई। यह बात सुनकर औरत बुरी तरह झल्लाई और बोली—जिस बाबा ने तुम्हें उपदेश दिया है, उसी के पास जाओ ! खाने को नहीं लाए तो फिर आने की भी क्या आवश्यकता थी ?

मच्छीमार सोचने लगा—हमेशा इसे खिलाता-पिलाता हूँ और कपड़े-गहने बनवा कर देता हूँ। आज कुछ नहीं लाया तो इतने में ही इसने चले जाने को कह दिया !

मगर औरत की जबान बन्द नहीं हुई। वह कहने लगी कमा कर नहीं खिलाया जाता तो किसी की बेटी को लाने की क्या जरूरत थी ? चले जाओ। अब मुँह मत दिखलाना। मर कर साँप हो जाओ तो भी मत आना।

मच्छीमार से नहीं सहा गया। वह जाल पटक कर उसी समय घर से बाहर हो गया और प्रतिज्ञा दिलाने वाले

महात्मा को खोजने लगा। अन्ततः महात्माजी जंगल में मिल गए। वह महात्मा के पास जाकर बैठ गया। सिंह वहाँ आया किन्तु महात्मा के तपःप्रभाव से प्रभावित होकर उसने न महात्मा को और न मच्छीमार को ही कोई हानि पहुँचाई। कुछ दिनों तक वह महात्मा के साथ ही रहा। तदनन्तर उसने दीक्षा धारण कर ली। करीब छह महीने हुए थे कि एक रात सोते समय सिंह ने उसे पंजा मार दिया। सिंह के विषैले पजे से आहत होकर वह मर गया और एक करोड़पति सेठ के घर, जिसे लड़के की अत्यन्त चाह थी, उत्पन्न हुआ।

सेठ को जब ज्ञात हुआ कि उसकी पत्नी गर्भवती है तो वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ। यथा समय बालक का जन्म हुआ। इधर बालक का जन्मोत्सव मनाया जा रहा था, उधर सेठ को संदेश मिला कि उसके माल से भरे जहाज़ समुद्र में डूब गए हैं। यह समाचार दुःखदायी था किन्तु पुत्रजन्म की खुशी में सेठ ने इसकी परवाह नहीं की।

धीरे-धीरे लड़का चार वर्ष का हुआ। सेठ को समाचार मिले कि दिसावर की उसकी दुकानों का काम 'फेल' हो गया है! कुछ घाटा लग गया और कुछ मुनीम लोग खा गए! इस समाचार से सेठ के चित्त को चोट पहुँची, मगर वह लाचार था! कुछ दिनों बाद उसका स्थानीय व्यापार भी ठप्प हो गया। सेठ चिन्ता ही चिन्ता में घुल कर चल बसा। माँ और बेटा रह गए। लोगों ने उनके मकान पर भी अधिकार कर लिया। उन्हे एक झोंपड़ी में रहकर जीवन यापन करना पड़ा।

सेठानी को अपना पूर्वजीवन याद आने लगा। चिन्ता

की चिंता उसके उर में निरन्तर धधकती रहती थी। उस आग ने उसकी जिंदगी को भी स्वाहा कर दिया। अब अकेला लड़का रह गया! तब लोगों ने कहा—हमारे बर्तन-भांड़े मांज दिया कर और रोटी खा लिया कर! लड़का यही काम करने लगा। एक बार उसे देर तक नींद आ गई और समय पर वह काम पर न पहुँच सका। मालिक ने उसे अलहदा कर दिया। लड़का बड़े संकट में पड़ कर जीवन के दिन यापन करने लगा!

लड़के ने पूर्वजन्म में मछलियाँ मारने का जो पाप किया था, उसी का फल वह भुगत रहा था। किये हुए कर्म अपना फल दिये बिना नहीं रहते। कोई किसी लड़के को कत्ल कर दे और फिर मन्दिर में जाकर राम-राम रटने लगे तो क्या सिपाही उसे नहीं पकड़ेंगे? यह ठीक है कि बाद में किया हुआ धर्माचरण भी निष्फल नहीं होता, मगर पहले के पाप तो भोगने ही पड़ते हैं।

एक दिन वह लड़का अपनी झोंपड़ी से बाहर निकल कर भूख का मारा रोने लगा तो किसी ने दया करके रोटी का टुकड़ा दे दिया। लड़का समझ गया कि रोने से रोटी मिलती है। बस, वह आगे गया और फिर रोने लगा। इससे उसे दो-चार टुकड़े मिल गए। अब वह टुकड़े माँग-माँग कर पेट भरने लगा।

एक दिन लड़का अपने बाप की दुकान के सामने वाली एक करोड़पति सेठ की दुकान के सामने पहुँचा। वहाँ वह रोने लगा किन्तु वह सेठ बड़ा ही कंजूस था। उसने आँख उठा कर भी नहीं देखा!

अरे डाकी! गरीब माँगता है और तू उसकी ओर देखता भी नहीं? कहा है:—

सदा एक जैसा जमाना नहीं है,
गरीबों को अच्छा सताना नहीं है॥
न समझो कि तुम जैसी दुनिया है सारी।
हैं वे भी जिन्हें आशियाना नहीं है॥

याद रक्खो, हमेशा एक-सा समय नहीं रहता। कल का भी पता नहीं है कि क्या हो जायगा? अमानुल्लाह अफगानिस्तान का बादशाह था। शाही जिंदगी बिताता था। समय आया और उसे देश को परित्याग करना पड़ा। अब वह मकानों की दलाली करके अपना पेट पालता है। ऐसी घटनाओं से सबक सीखो। मालदारो! गरीबों को मत सताओ। न मालूम हवा कब कैसी चल पड़ेगी?

देखिए क़िस्मत की खूबी दिन बुरे आने लगे।
जिनको फूलों से घृणा थी, ठोकरें खाने लगे!

फूल की कली भी जिनके कोमल अंग में चुभती थी, वही आज ठोकरें खाते फिरते हैं! दैव का मारा वह लड़का भिखारी के रूप में सेठ की दुकान पर माँगता है—

कुछ टूक, सेठजी दो दिल में दया विचारी।
भूखा हूँ दो दिनों का सुध लीजिए हमारी॥

लड़के ने प्रार्थना की कि सेठजी ! एक टुकड़ा रोटी का दे दीजिए। आपके पान के खर्च में गरीबों का पेट भरता है ! किन्तु सेठ सुनी अनसुनी कर देता है।

इसी समय दो साधु—गुरु और चेला आये और सेठ की हवेली में चले गए। सेठ ने उन्हें जाते देखा तो सोचा—मैं इस भिखारी को टुकड़ा भी नहीं दे रहा हूँ, किन्तु मेरी स्त्री मूर्खा है। कहीं इन साधुओं को दूध घी न दे देवे ! यह सोच सेठ भी उनके पीछे पीछे चल दिया।

गुरु और चेला जीना चढ़ रहे थे तो चेले ने पूछा—गुरुजी, आपने इतनी तपस्या की है। कृपा करके बतलाइए कि इस गरीब की भी दशा सुधरेगी या नहीं ?

गुरुजी ने कहा—यह लड़का इस कृपण सेठ के घर का मालिक बनने वाला है !

सेठ के कानों में यह शब्द पड़ गए। उसने चार गुण्डों को बुलाकर कहा—मैं तुम्हें दो सौ रुपये इनाम दूंगा। तुम इस लड़के को कत्ल कर आओ।

गुण्डे कत्ल करने पर राजी हो गए। एक ने लड़के के पास जाकर उत्तम भोजन दिखाया और उसका प्रलोभन देकर उसे बाहर ले चला। जैसे गाय हरे चारे के लोभ में कसाई के पीछे-पीछे भी चली जाती है, उसी प्रकार वह लड़का भी उस कातिल के पीछे हो लिया। तीन अज्ञात रूप में उसके साथ जाने लगे। जंगल में जाकर चारों कातिलों ने अपने अपने छुरे निकाले। बेचारा अनाथ लड़का रोने लगा। ज्ञान

किसे प्यारी नहीं होती ? मगर रोने के अतिरिक्त उसके पास कोई शस्त्र नहीं था।

लड़के को विलख-विलख कर रोते देखकर उनमें से एक को दया आ गई। उसने सोचा—इस अनाथ भिखारी बालक की हत्या कर देने पर भी हमें क्या मिल जाएगा ? सौ रुपये ले लिये हैं और सिर्फ सौ रुपये लेने हैं। इसकी एक उंगली काट लें और वही दिखला कर सेठ से रुपये वसूल कर लेंगे !

उन्होंने ऐसा ही किया। लड़के की उंगली काट कर कहा—अच्छा, भाग जा ! किसी से जिक्र न करना; नहीं तो मार डालेंगे ! लड़का जान बचा कर भागा। गुण्डे उसकी उंगली ले गए। उन्होंने सेठ को उंगली दिखा कर शेष सौ रुपये भी वसूल कर लिए। सेठ ने समझ लिया—महात्मा की बात झूठी हो गई ! वह मेरी सम्पत्ति का मालिक बनने से रहा !

उधर उस लड़के के दिमाग पर भय ने बुरी तरह प्रभाव डाला। मौत उसे सामने नाचती हुई दिखाई देती ! वह प्रत्येक मनुष्य को कातिल समझने लगा। अतएव वह 'मारो मत, चाहे खाने को मत दो' इस प्रकार चिल्लाता हुआ भागा जा रहा था। वह निरुद्देश्य चला जा रहा था। कहाँ जाना है, यह बात उसे मालूम नहीं थी। बस, जाना ही उसका काम था। अतएव चलते-चलते वह एक गाँव में पहुँचा। वहाँ गाँव का पटेल और कुछ आदमी ताप रहे थे। लड़के का इस प्रकार चिल्लाना सुन कर पटेल को दया आ गई। उसने कहा—कोई गरीब बालक घबराया हुआ है। उसे इधर ले आओ।

आदमी उसे ले आए। वह 'मारो मत, चाहे खाने को

मत दो' कह कर रोने लगा। पटेल ने उसे गोद में बिठलाया, पुचकारा, सिर पर हाथ फेरा और आश्वासन दिया। उसकी आँखों के आँसू पोंछ कर लड़के से कहा--बच्चा, डर मत। तुझे कोई नहीं मारेगा। बता तो सही, किसने तुझे मारा है?

लड़के ने फिर वही कहा—'मारो मत, चाहे खाने को मत दो।' पटेल समझ गया कि लड़का गहरे भय से ग्रस्त है। इसके दिमाग में किसी भयावह घटना ने असर डाला है। अतएव पटेल ने उसे दूध मँगाकर पिलाया। दुध पीने के बाद उसकी बुद्धि कुछ ठिकाने आई। तब उसने पटेल को अपनी जिंदगी की सारी कथा कह सुनाई।

पटेल ने कहा—अच्छा बेटा, जो हुआ सो हुआ। अब चिन्ता मत करो और मौज से यहाँ रहो।

लड़का पटेल के घर रहने लगा। वह खेती-पोती के काम में सहायता देता था। हाथ में लट्ठ रखता था। देहात की जल-वायु के कारण वह स्वस्थ हो गया। उसका शरीर खूब हृष्ट पुष्ट हो गया। धीरे-धीरे वह २० वर्ष का नौजवान हो गया।

संयोग से पटेल के साथ उस सेठ का लेन देन था। एक बार इसी सिलसिले में सेठ पटेल के यहाँ आया। पटेल ने सेठ की आव-भगत की। भोजन कराया और तत्पश्चात् दोनों हिसाब करने बैठे।

बातचीत के दौरान में उस लड़के का जिक्र आ गया। पटेल ने लड़के की कहानी उसे कह सुनाई। लड़के की कहानी सुन कर सेठ के चेहरे पर उदासी छा गई। उसने सोचा--हो न

हो यह वही लड़का है ! अब सेठ का मन उचट गया। हिसाब-किताब करना भूल गया। मगर सेठ बड़ा काइयां था। चट बड़बड़ाने लगा--ये नौकर--चाकर भी कितने हरामी हैं ! मँगाई थी कौन सी और ले आए कौनसी वही ? कैसे हिसाब हो ?

पटेल बोला–तो आज यहीं ठहर जोइए और वही दूसरी मँगवा लीजिए।

सेठ—आप अपने आदमी को भेज दीजिए। हाँ, इस छोकरे को ही न भेज दो ! यह ले आएगा।

पटेल ने लड़के को भेजना स्वीकोर कर लिया। सेठ ने एक पत्र लिख कर उसे दे दिया। पत्र में लिखा- खत लेकर यह लड़का आ रहा है। इसे विप दे देना। किसी की सलाह न लेना, किसी पर जाहिर न होने देना और देर न करना।

नौजवान लड़का खत लेकर रवाना हुआ। वह पहुँचा तो शहर के फाटक बंद हो चुके थे। अतएव रात्रि को बाहर बने देवी के एक मंदिर में ठहर गया। थको–मांदा था ही लेटते ही नींद आ गई और खूब मस्ती की नींद आई। कागज़ और सिर का फेंटा किधर ही जो पड़ा !

सवेरा होने पर उस सेठ की कन्या मंदिर में आई। उसने पड़ी हुई चिट्ठी उठा कर पढ़ी। न जाने किस मनोभावना से प्रेरित होकर लड़की ने 'विप' की जगह 'विपा' कर दिया। उस लड़की का नाम विपा था। एक काना बढ़ा देने मात्र से कुछ का कुछ अर्थ हो गया !

लड़की ने चिट्ठी वहाँ डाल दी और देवी का दर्शन करके लौट आई। थोड़ी देर बाद वह लड़का जागा और फेंटा तथा चिट्ठी सँभाल कर सेठ की दुकान पर पहुँचा। सेठ के लड़के को पत्र देकर वह एक ओर बैठ गया। लड़के ने पत्र पढ़ा तो चकित रह गया। फिर उसने सोचा-सेठ साहब कंजूस हैं, इसी कारण इसके साथ विषा बहिन का विवाह करने की आज्ञा भेजी है! सोच कर उसने अपने मुनीम को भी वह पत्र दिखलाया। मुनीम ने भी यही विचार किया। दोनों ने सलाह करके तत्काल नाई को बुलाया। नौजवान की हजामत कराई। अच्छे वस्त्र आभूषण पहनाए और ब्राह्मण को बुलाकर गोधूलि वेला में पाणिग्रहण संस्कार भी कर दिया गया।

इधर नौजवान लौट कर नहीं गया और तीन दिन हो चुके तो सेठ ने समझ लिया कि उसे विष दे दिया गया है! फिर सोचा-अभी मेरा वहाँ न जाना ही ठीक है! यह सोच कर सेठ वहाँ से कहीं अन्यत्र चला गया और एक महीने तक घर न लौटा। इधर वह नौजवान सेठ का जमाई बन कर मजे-मौज करने लगा।

जमाई आधे धन का मालिक तो बन ही गया!

इस कथा का अभिप्राय कर्म के फल को बतलाना है। मच्छीमार ने पहले जो पाप कर्म किया, उसका फल आगामी भव में उसे भोगना पड़ा। वह दर दर का भिखारी बना और तरह-तरह के कष्टों का पात्र बना। किन्तु अन्तिम समय उसने पापाचरण का त्याग करके धर्म की आराधना की और पुण्योपार्जन किया। इसका परिणाम यह हुआ कि उसका जीवन सुखमय हो गया!

इसीलिए मैं कहता हूँ कि गुरु को ही अपना मार्गदर्शक मान कर उनके आदेशों पर चलो। ऐसा करने से तुम्हारा कल्याण ही होगा–कभी अकल्याण न होगा। यह ध्यान रक्खो कि तुम्हारा जीवन एकदम बंधनहीन न हो। धार्मिक प्रतिज्ञाओं के बंधन में जीवन को बँधने दो। प्रतिज्ञा कर लेने पर मनुष्य अनेक पापों से छुटकारा पा लेता है। प्रतिज्ञा आपके निर्बल हृदय को सबल बनाती है। आपको पाप में प्रवृत्ति न करने के लिए सावधान करती रहती है। अतः शक्ति को न छिपाते हुए अवश्य धर्म की प्रतिज्ञाएँ लो और उनका पालन करो। ऐसा करके अपने जीवन को उज्ज्वल बनाओगे तो आनन्द ही आनन्द होगा।

११-१-४६

६

# गुरु-गरिमा

स्तुतिः—
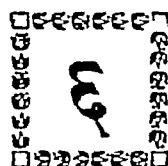
निर्धूमवर्त्तिरपवर्जिततैलपूरः,
कृत्स्नं जगत्त्रयमिदं प्रकटीकरोषि ।
गम्यो न जातु मरुतां चलिताचलानां,
दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ ! जगत्प्रकाशः ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं कि-हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन् ! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय ? प्रभो ! कहाँ तक आपके गुण गाये जाएँ ?

हे जगत् के महाप्रभु ! आप इस विश्व में एक अद्वितीय दीपक हैं। दूसरे दीपकों के लिए तो तेल और बत्ती की आवश्यकता होती है, किन्तु आप ऐसे निराले दीपक हैं कि तेल और बत्ती की भी कोई आवश्यकता नहीं है। दूसरे दीपक

थोड़ी-थोड़ी दूरी तक ही अपना प्रकाश फैलाते हैं और स्थूल पदार्थों को ही प्रकाशित करते हैं, मगर आप एक साथ तीनों लोकों को अपने अलौकिक आलोक से आलोकित करते हैं। अन्यान्य दीपक हवा के हलके से झौंके से ही गुल हो जाते हैं, जब कि आप पर प्रलयकाल की शैल-शिखरों को भी हिला देने वाली आंधी का भी असर नहीं पड़ता !

ऐसे भगवान् ऋषभदेव हैं। उन्हीं को हमारा बार-बार नमस्कार है।

भाइयो ! जैसे दीपक अंधकार को मिटाकर उजेला करता है, उसी प्रकार ज्ञान मनुष्य को रोशनी में लाता है। रोशनी न हो तो किसी भी पदार्थ को ढूँढ़ने में कठिनाई होती है और रोशनी हो तो वस्तु फौरन मिल जाती है। इसी प्रकार ज्ञानवान् आत्मा सत्य-असत्य को तत्काल समझ लेता है। अपने हित और अहित को पहचान लेता है।

प्रश्न हो सकता है कि आत्मा में ज्ञान की रोशनी कहाँ से लाई जाय ? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि आत्मा में रोशनी लाने के लिए कहीं भटकने की आवश्यकता नहीं है। वह रोशनी किसी से उधार लेकर अथवा खरीद कर नहीं डाली जाती। रोशनी तो आत्मा में ही है और वह असीम है। उसकी तुलना विश्व की कोई भी कृत्रिम या अकृत्रिम रोशनी नहीं कर सकती। विद्युत् का प्रबलतम प्रकाश उसके सामने नगण्य है। सूर्य और चन्द्रमा का प्राकृतिक प्रकाश भी उसकी तुलना में खद्योत के प्रकाश के समान है। कोटि-कोटि सूर्य और अनन्त-अनन्त चन्द्रमा मिल कर भी उसकी समता नहीं कर सकते। कहा भी है—

चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा ।

अर्थात् -शुद्ध आत्मा चन्द्रमाओं से भी अधिक निर्मल है और सूर्यों से भी अधिक प्रकाशकर है ।

जब आत्मा का स्वरूप ही इस प्रकार प्रकाशमय है तो फिर उसे क्या आवश्यकता है कि प्रकाश बाहर से लाए ? अलबत्ता, प्रयास यह करना है कि अन्तर्निहित प्रकाश के ऊपर जो आवरण छाये हैं, उन्हें दूर किया जाय और आत्मा के तात्त्विक स्वरूप को प्रकट किया जाय ! तात्पर्य यह है कि ज्ञान की रोशनी अपने आपमें ही है। उसे प्रथम तो पहचानने की और फिर साधना के द्वारा अभिव्यक्त करने की आवश्यकता है। इसी को शास्त्रों में ज्ञान और क्रिया कहा है तथा बतलाया है—

ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः ।

अर्थात्—ज्ञान से और चारित्र से मुक्ति होती है ।

जिस आत्मा ने अपने आपको सत्य स्वरूप में जान लिया और अशुभ क्रियाओं को त्याग कर शुभ क्रियाओं में लगा दिया, बस वही स्वयं प्रकाशमय बन जाता है। ज्ञान और सदाचरण से आत्मा में चिरकाल से संचित वासनाजनित विकार नष्ट हो जाते हैं।

कइयों का कहना है कि अकेला ज्ञान आत्मा का उद्धार कर देता है और कई कहते हैं कि ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। क्रिया करते चलने से ही आत्मा की शुद्धि हो जाती है। किन्तु यह दोनों मान्यताएँ अधूरी हैं। ज्ञान के अभाव में शुद्ध

क्रिया नहीं हो सकती और शुद्ध क्रिया के अभाव में ज्ञान वृथा साबित होता है। कोई मनुष्य बड़ा विद्वान है, अच्छा उपदेशक है, सरस और मधुर भाषा में व्याख्यान देता है, लोगों को मुग्ध कर लेता है, किन्तु कुत्सित वासनाओं से घिरा हुआ है, असदाचरण करता है, मदिरापान करता है और इस प्रकार अपने व्यक्तिगत जीवन को गंदा बनाये हुए है तो उसकी आत्मा प्रकाशमय नहीं बनेगी। संभव तो यही है कि दूसरों पर उसका कुछ प्रभाव ही न पड़े, कदाचित् प्रभाव पड़ गया तो भी उसका निज का जीवन तो उच्चश्रेणी कदापि नहीं बन सकता। वह 'दिया तले अँधेरा' की लोकोक्ति को ही चरितार्थ करेगा। जब ज्ञान देने वाले में ही कसर होगी तो दूसरों पर उसका क्या असर पड़ेगा ?

एक समय मस्जित में एक मौलाना साहब ठहरे। जुमे के दिन काजी साहब ने जोर-जोर से बांग देकर नमाज़ पढ़ी तो वह अवाज़ मौलाना ने भी सुनी। जब काज़ी साहब आवाज़ लगा कर चले गए तो मौलाना ने सोचा-काजीजी की क्या ही शरीं जबान है और बिलकुल साफ--साफ अलफ़ाज हैं ! जीम की जगह जीम, ज़ोय की जगह ज़ोय और गैन की जगह गैन बोलते हैं, मगर क्या बात है कि लोगों पर असर नहीं होता ?

मौलाना साहब काज़ी के घर पहुँचे तो वह कहीं बाहर गए थे। उनकी औरत ने उनकी आवभगत की और खाना खिलाया। मौलाना ने पूछा--तुम कौन हो ? तो मालूम हुआ कि यह काजी की औरत है। तब मौलाना ने कहा--वाकई आज काजी साहब ने जो आवाज़ दी, वह बराबर सही थी और जबान भी मीठी थी किन्तु लोगों के दिल पर असर क्यों नहीं होता ?

औरत ने कहा—असर क्यो खाक हो ! खाना खाने बैठते हैं तो एक बोतल शराब की टें करते हैं !

मौलाना—तुम मना नहीं करतीं ?

औरत—बहुत मना करती हूँ; मगर वे कहते हैं-वह (खुदा) तो रहीम रहमान है, अर्थात् दयालु है। सारे गुनाह माफ कर देगा।

मौलाना—अच्छा, अब वे ऐसा कहें तो तुम कहना कि खुदा तो जुल्मो जलाल है, अर्थात् पापों की सज़ा देने वाला है !

मौलाना चले गए। थोड़ी देर बाद काजी आए। खाना खाने बैठे तो हमेशा की तरह बोतल हाथ में ली। तब उनकी औरत ने कहा-शराब पीनो मना है !

काजी—अजी, खुदा तो रहीम रहमान है।

औरत—और क्या वह जुल्मो जलाल नहीं है ?

यह सुनते ही काजी के दिल पर गहरा असर हुआ। शराब की बोतल हाथ से छूट कर गिर गई-फूट गई। उसी दिन से काजी साहब ने शराब पीना छोड़ दिया।

इसके बाद काज़ी ने जो आवाज़ दी तो लोगों पर उसका असर हुआ। काजी का निज का जीवन भी सुधर गया !

भाइयो ! जहाँ सत्य आकर खड़ा होता है वहाँ अंधेरा नहीं ठहरता। किन्तु जीवन में सत्य होना चाहिए। अगर जीवन में सत्य नहीं है तो वह जीवन खोखला है।

जैन कहता है कि हमारा मज़हब सच्चा है। वैष्णव कहता है—हमारा धर्म सच्चा है। मुसलमान के पास जाओ तो

वह दावा करता है कि हमारा इस्लाम मज़हब ही सच्चा है। इस प्रकार सब लोग अपने अपने मज़हब को सच्चा कहकर फूले नहीं समाते। मगर मैं कहता हूँ कि, अगर कोई मज़हब सच्चा भी मान लिया जाय तो इससे क्या हुआ ? तुम्हारा धर्म सच्चा है, क्या इतने मात्र से ही तुम्हारी आत्मा का उद्धार हो जायगा ? मज़हब मज़हब है, धर्म-धर्म है, और तुम तुम हो। मज़हब अगर सच्चा है तो इसी से तुम सच्चे नहीं हो सकते।

जैन कहें कि हम सच्चे हैं तो मैं उससे पूछता हूँ कि तुम लोग 'अहिंसा परमो धर्मः' की बात कहते हुए भी कम क्यों तोलते हो ? लड़कियाँ बेचकर पैसे क्यों लेते हो ?

वैष्णवों के मत में कहा है—

मातृवत्परदारेषु, परद्रव्येषु लोष्ठवत्।
आत्मवत्सर्वभूतेषु, यः पश्यति स पश्यति ॥

अर्थात्—जो परस्त्रियों को माता के समान समझता है, पर के धन को धूल के समान मानता है और अन्य समस्त प्राणियों को अपने ही सदृश अनुभव करता है, वास्तव में वही सत्यदृष्टा है।

मगर यह सत्य क्या वैष्णव मत की सचाई का दावा करने वाले वैष्णव के जीवन में झलकता है ? आज वह हाकिम बन जाय तो हजारों की रिश्वत डकार जाता है! जो मांस खाते हैं और मदिरापान करते हैं और फिर ठाकुरजी के मन्दिर में जाकर पूजा-पाठ कर लेते हैं; उनका जीवन स्वच्छ हो जायगा ? उन्हें जीवन की सचाई मिल जायगी ? मज़हब की सचाई भी ऐसे लोगों को कदापि नहीं तार सकती ! इधर तो कहना कि--

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।

और इधर बेचारे बकरों की गर्दन पर छुरियाँ चलाना भी कोई धर्म है? जो लोग मुर्दे को तो कब्र में दफनाते हैं और बकरे को मार कर उदर में दफ़नाते हैं, उनका जीवन कभी पवित्र नहीं बन सकता।

गीता में लिखा है कि तामसिक भोजन नहीं करना चाहिए। एक आदमी गीता का भक्त है, प्रतिदिन गीता का पाठ करता है, गीता की पूजा करता है और उसकी सचाई सिद्ध करने के लिए दूसरों को ललकारता है, फिर भी मांसभक्षण करता है! तो गीता की सचाई का उस पर क्या असर हुआ? गीता की सत्यता उसकी आत्मा को किस प्रकार तार सकती है? वह तरेगा तो अपनी जिंदगी की सचाई से ही तरेगा!

हिन्दू कहते हैं-दया करो। मुसलमान कहते हैं-रहम करो। किन्तु हिन्दू झटके से गर्दन उड़ा देते हैं और मुसलमान धीरे-धीरे अधिक तकलीफ़ देकर मारते हैं। क्या यही मज़हब सच्चा है?

दीनों को सता करके नफा क्या उठाओगे?
आहों से उनकी फूलने न फलने पाओगे।
कर करके जुल्म जालिमो मिट्टी में मिलोगे।
ओ सताने वालो कहो कैसे तिरोगे? ॥

कर लो दो दिन के लिए मनमानी, आखिर लेखा लेंगे राई-राई का। यहाँ तो रिश्वत देकर चोर के साहूकार बन

जाओगे किन्तु वहाँ किसी गवाह की आवश्यकता नहीं है। तेरे हाथ--पाँव ही गवाही देंगे। वहाँ पोपा बाई का राज्य थोड़े ही है!

पोपा बाई के लिए एक नज़ीर है। मालवा में कोई रियासत थी। उसके राजा के सन्तान नहीं थी। सिर्फ एक लड़की थी। उस लड़की का नाम पोपा बाई था। राजा लड़की को ही लड़के के समान समझता था। उसे लड़के की ही पोशाक पहनाता था। राजा ने उसीको अपने राज्य की उत्तराधिकारिणी नियुक्त किया था।

राजा मर गया तो वह राजगद्दी पर बैठी। मंत्री राज्य का कार्य करता ही था। पोपा बाई आनन्द से राज्यसुख भोग रही थी। एक बार उसके दिमाग में आई कि सब लोग कीर्त्ति उपार्जन करने के लिए नाना प्रकार के कार्य करते हैं। मुझे भी नाम कमाना चाहिए। कहा भी है—

घटं भिन्द्यात्पटं छिन्द्यात्, कुर्यात् रासभरोहणं।
येन केन प्रकारेण, प्रसिद्धः पुरुषो भवेत् ॥

जिस किसी भी प्रकार से संभव हो, मनुष्य को प्रसिद्धि प्राप्त करनी चाहिए! घड़े फोड़ कर, कपड़े फाड़ कर और नहीं तो गधे पर सवारी करके भी, जैसे बने तैसे, नामवरी कमानी चाहिए!

हाय प्रसिद्धि! लोग तरसते हैं इसके लिए! मनुष्य की प्रसिद्धि उसके सद्गुणों से स्वतः हो जाती है। गुण कस्तूरी की गंध की तरह बिना फैलाये फैल जाते हैं। सद्गुणों के

कारण हुई प्रसिद्धि में प्रशस्तता भी होती है। मगर आम तौर पर लोग सद्गुण तो प्राप्त करना नहीं चाहते, मगर कीर्त्ति के लिए रोते हैं! पोपा बाई को भी प्रसिद्धि की बीमारी लग गई!

दूसरे दिन दरबार लगा तो मंत्री ने कार्यक्रम पेश किया। बतलाया कि आज अमुक--अमुक मामलों की सुनवाई करनी है। परन्तु पोपा बाई के मस्तिष्क में तो नाम कमाने की धुन समाई थी। उसने कहा--आज सब की तारीखें बदल दो। मुझे एक नया विचार प्रस्तुत करना है।

मंत्री—आप क्या चाहती हैं ?

पोपा—मैं दुनिया में नाम करना चाहती हूँ।

मंत्री—उचित है। मगर कैसे ? आपकी आज्ञा हो तो पानी में महल बनवा दिया जाय। पहाड़ों पर इमारत बनवाने से भी नाम रह सकता है। आपका आदेश होना चाहिए।

पोपा—इनकी हिफाज़त करने वाला कोई न होगा तो गिर जाएँगी।

मंत्री—तो फिर क्या किया जाय ?

पोपा—मैं चाहती हूँ कि मेरे राज्य में सब चीजें एक भाव बिकें। अर्थात् सोना और पीतल, घी और तेल, हाथी और गधा, आदि सभी चीजें एक भाव बिकनी चाहिए।

मत्री यद्यपि चतुर था और समझता था कि ऐसा होने से अच्छा परिणाम नहीं निकलेगा, फिर भी दुनिया में हाँ जी की नौकरी है। हुजूर के सामने जी हुजूर ही कहना पड़ता है।

रानी पोपा बाई का आदेश सब ने स्वीकार कर लिया। घोषणा करा दी गई कि आज से राज्य भर में सब वस्तुएँ एक ही मोल में बिकेंगी। जो व्यक्ति इस राजाज्ञा उल्लंघन करेगा, उसे छह महीने की सजा होगी और आर्थिक दण्ड देना पड़ेगा।

इस अनोखी घोषणा को सुन कर प्रजाजन विस्मय में पड़ गए। जिन्हें यह बात पसंद आई वे रहे और जिन्हें पसंद न आई वे राज्य छोड़कर चले गए। राजाज्ञा का कड़ाई के साथ पालन होने लगा। पोपा बाई अभिमान के साथ राज्य करने लगी।

कुछ दिनों बाद वहाँ दो साधु--संन्यासी आए। उनमें एक गुरु और चेला था। वे नगर के बाहर बगीचे में ठहर गए। गुरु ने चेले से कहा--हम लोगों ने घर छोड़ दिया है, परन्तु पेट ने खाना तो नहीं छोड़ा है! बस्ती में जा और कुछ खाने-पीने की जुगत कर।

चेला गया। उसने 'सीताराम' की बांग लगाई। औरतों ने आटा दिया और जल्दी ही उसका तूंबा भर गया। चेला खुश हो गया। लौटते समय उसने सोचा-थोड़ा आटा देकर बेसन की सेव खरीद लेना ठीक होगा। वह हलवाई की दुकान पर गया और बोला-भाई, आटे के बदले सेव दे दोगे क्या? हलवाई ने कहा--यहाँ तो सभी चीजें एक भाव हैं! जो चाहो सो ले सकते हो!

चेला—तो सेवें रहने दो। रबड़ी दे दो!

हलवाई ने आटे के बराबर रबड़ी तूंबे में भर दी। चेले

की खुशी का पार न रहा। वह जल्दी--जल्दी पैर बढ़ाकर गुरु के पास पहुँचा। गुरु ने पूछा--बच्चा, आटा लाया ?

चेले ने कहा--गुरुजी, यहाँ तो सब चीजें एक भाव हैं। मैं तो आटे के बदले रबड़ी ले आया हूँ।

गुरु—क्या बदी और क्या नेकी भी एक भाव हैं ? हीरा और कंकर भी एक ही भाव हैं ? अरे बच्चा, भगवान् के यहाँ तो भला का भला और बुरा का बुरा रहता है। दोनों एक सरीखे होते नहीं। सब एक--से होते तो नरक और बैकुंठ की क्या आवश्यकता थी ? बच्चा, यह नरककुंड है।

चेले ने कहा--गुरुजी, मैं तो वैकुंठ में पहुँच गया हूँ। ऐसा आनन्द भी कहीं मिल सकता है ? मैं तो बस, यहीं जमा रहूँगा।

गुरु—आज वैकुंठ मालूम हो रहा है, कल नरक मालूम होने लगेगा। जहाँ गुड़ और गोबर एक भाव हों वहाँ रहने में भारी खतरा है। जहाँ लुच्चे--लफंगे और साधु-सन्त एक से हों वहाँ क्षण भर भी ठहरना उचित नहीं है। यहाँ से जल्दी भाग जाने में ही कल्याण है।

चेला—आपको जाना हो तो चले जाइए।

गुरु के बहुत समझाने पर भी चेला न माना। तब गुरु वहाँ से रवाना हो गए और कुछ कोस की दूरी पर एक गाँव में धूनी रमा कर रहने लगे। इधर चेला वहीं जमा रहा। प्रतिदिन रबड़ी और मालपुआ का भोग लगाता और मस्त रहता था। उसकी काया स्थूल हो गई! यहाँ तक कि उठना बैठना भी

कठिन हो गया। फिर भी वह खूब खाता-पीता और मौज करता।

एक बार उसी नगर में किसी सेठ ने चार मंजिल की हवेली बनवाई। सेठजी हवेली देखने गए तो उन्होंने देखा कि चौथी मंज़िल की दीवार एक जगह से तड़क गई है। मजदूरों को डाँटने-फटकारने के बाद सेठजी ने उसे तुड़वाकर फिर बनवाना आरम्भ किया। दोबारा दीवार तैयार हो गई तो सेठ एक गज-धर को साथ लेकर फिर देखने गए। उसका गजधर निरीक्षण कर रहा था कि पास की गली में होकर एक लड़की निकली। उसके पैरों में पायल थे और उनकी छुमछुम की आवाज़ आ रही थी। बूढ़े गजधर का ध्यान उस छुमछुम की ओर गया कि इतने में पैर फिसल जाने के कारण वह धड़ाम से नीचे आ गिरा और नीलाम बोल गया।

सेठ उसे उठवाकर राजदरबार में ले गया और पुकारा--हुजूर, गजब हो गया !

पोपा बाई ने कहा-मेरी रियासत में गजब का क्या काम ?

सेठ—हुजूर, लड़की छुमछुम करती निकली तो इस बूढ़े की मौत हो गई ! पोपा बाई अच्छा, अभी बुलवाती हूँ उसे ! वह ऐसे जेवर पहन कर क्यों निकली ?

लड़की फौरन बुलवाई गई। पूछने पर उसने कहा-हुजूर, मेरा क्या कुसूर है ? मेरे पिताजी ने जैसे जेवर बनवा दिये हैं, वैसे पहनती हूँ।

पोपा—ठीक तो है ! इसके बाप को बुलवाओ।

बाप आया। उसने उत्तर दिया-सुनार ने ऐसे ही बना दिये।

तब सुनार बुलवाया गया। उसे छमछमाने वाले जेवर बनाने के अपराध में फाँसी की सजा दी गई।

सुनार को फाँसी देने ले जाया गया तो वह रोने लगा। बोला-मेरे छोटे-छोटे बालक हैं। अभी उन्हें काम भी नहीं सिखलाया है। वे सब भूखे मर जाएँगे।

जल्लाद—तुम्हारे प्राणों की रक्षा हो सकती है। परन्तु यह बताओ कि ऐसा करने से हमें क्या मिलेगा?

सुनार—मेरे पास कुछ भी नहीं है। दरिद्र हूँ! क्या दे सकता हूँ! पर बाल-बच्चों पर दया करो!

जल्लाद चार थे। उन्होंने कहा-अच्छा, हमारे गहने बिना मिहनताना लिये घड़ देना! बोलो, मजूर है?

शूली चढ़ाने का समय आ गया। पोपा बाई स्वयं आई। उसने पूछा-क्यों इसे अभी फाँसी नहीं दी जा रही है?

जल्लाद—हुजूर, इसमें आपकी बदनामी है।

पोपा—क्या बदनामी है?

जल्लाद—इसके बच्चे भीख माँगेंगे तो लोग समझेंगे कि सरकार के राज में लोगों को खाना तक नहीं मिलता!

पोपा—मगर अपराधी को सज़ा मिलनी चाहिए। मौत की सजा है।

जल्लाद—हुजूर, फाँसी का फंदा चौड़ा है और इस आदमी की गर्दन पतली है। इसे फाँसी देना ठीक नहीं।

पोपा—अच्छा, इसे छोड़ दो और किसी मोटे को पकड़ लाओ।

सुनार छोड़ दिया गया और सिपाही किसी मोटे-ताजे आदमी की तलाश में निकले। खोजते-खोजते बगीचे में पहुँचे, जहाँ चेलाजी माल खाकर मोटे हो गए थे। सिपाहियों ने कहा-बाबाजी, तैयार हो जाओ।

बाबा—क्यों बच्चा ?

सिपाही—मोटे-ताजे बने क्यों ?

बाबा—मोटा-ताज़ा बनना भी कोई जुर्म है क्या ?

सिपाही—यह तो वहाँ चलने पर पता चलेगा ! सीधी तरह हमारे साथ चले चलो !

बाबाजी आगे हो गए। सिपाही उन्हें पोपा बाई के पास लाए। उसने कहा-ठीक है, इसे फाँसी दे दो।

बाबाजी रोने लगे। पोपा बाई ने कहा-इनकी कुछ खाने की इच्छा हो तो पूछ लो ! पूछने पर बाबाजी ने कहा-मुझे कुछ खाना नहीं है।

बाबा—पास ही गाँव में मेरे गुरुजी रहते हैं। उनसे मिलना चाहता हूँ। पोपा बाई ने आदेश दिया-अच्छा, इसके गुरु को बुला लाओ।

सिपाही गए। गुरु को सब हाल कहा। अनमने भाव से गुरु आए तो चेलाजी उनके चरणों में गिर पड़े। बोले-गुरुजी, किसी प्रकार प्राण बचाइए। मैंने आपका कहना नहीं माना तो आज यह अवसर देखना पड़ा।

गुरु—तूने ईश्वर का आदेश नहीं माना, इसी से दुःख उठाना पड़ा है। मैं बचाने को उपाय करता हूँ। देख, एक काम करना। जब मैं कहूँ कि मैं फाँसी पर चढ़ूँगा तब तू कहना—नहीं, मैं चढ़ूँगा! इसी प्रकार कहते जाना! हम दोनों फाँसी पर चढ़ने के लिए झगड़ेंगे! गुरु-चेला इस प्रकार निश्चय करके तैयार हो गए। तब चेले ने कहा—जल्लादो, जल्दी करो। मुझे फाँसी पर चढ़ा दो!

तब गुरु ने कहा—मैंने तपस्या ज्यादा की है। मैं गुरु हूँ। अतएव मुझे पहले फाँसी मिलनी चाहिए।

दोनों झगड़ने लगे। दीवान ने आकर पूछा—फाँसी के लिए क्यों झगड़ते हो?

गुरु—यह बात किसी को बतलाने की नहीं है!

तब पोपा बाई भी आई। उसने भी झगड़ने का कारण पूछा। तब गुरु ने कहा सरकार, इस समय फाँसी पर चढ़ने में कल्याण है।

पोपा बाई—क्या कल्याण है?

गुरु—इस समय वैकुंठ का द्वार खुला हुआ है। जो फाँसी पर चढ़ेगा वह सीधा वहाँ पहुँच जाएगा। इसीलिए इस समय मैं मरना चाहता हूँ।

पोपा बाई—वैकुंठ का द्वार तुम्हारे लिए ही खुला है या औरों के लिए भी?

गुरु—भगवान के दरबार में पक्षपात नहीं है। वहाँ सभी प्राणी समान हैं। इस समय जो कोई मरेगा, वैकुंठ जाएगा।

पोपा बाई—तो तुम दोनों हट जाओ यहाँ से! फाँसी तुम्हारे बाप की नहीं, मेरी है। पहले मैं चढ़ूँगी।

सभी लोग पोपा बाई से तंग आ गए थे। किसी ने उसे मना नहीं किया। वह फाँसी के फंदे में फँस कर मर गई।

यह तो एक उदाहरण है। मगर उदाहरण के लिए ही नहीं है। इससे आपको बहुत कुछ सीखना है। सब से पहले तो यह समझना है कि ईश्वर के यहाँ पोपा बाई का राज्य नहीं है। नेकी करने वालों को स्वर्ग मिलता है और बदी करने वालों को नरक की यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं। कोई भी प्राणी, किसी भी दशा में, अपने कृत कर्मों के फल से बच नहीं सकता।

चेला की तरह कई लोग ऐसे होते हैं जो केवल वर्त्तमान काल के सुखों में ही मस्त होकर भविष्य को भूल जाते हैं। आज संसार में अधिकांश मनुष्य चेलाजी की श्रेणी के हैं। ऐसे लोगों का वर्णन शास्त्र में भी आता है। वे सोचते हैं—

हत्थागया इमे कामा, कालिया जे अणागया।
को जाणइ परे लोए, अत्थि वा नत्थि वा पुणो॥

उत्तराध्ययन, अ. ५

अर्थात्—यह कामभोग तो अपने हाथ में आये हुए हैं। इन्हें छोड़ना योग्य नहीं है। भविष्य में स्वर्ग में मिलने वाले या मोक्ष में प्राप्त होने वाले सुखों का क्या ठिकाना है! कौन जाने परलोक है भी अथवा नहीं? परलोक की आशा करके इह लोक के सुखों को त्याग देने में कोई बुद्धिमत्ता नहीं है।

इस प्रकार की क्षुद्र दृष्टि से प्रेरित होकर वे अपनी आत्मा को पाप के कीचड़ में फँसा लेते हैं। यथा—

हिंसे वाले मुसावाई, माइल्ले पिसुणे सढे ।
भुंजमाणे सुरं मंसं, सेयमेयंति मन्नई ॥

\+ + + +

तओ पुट्ठो आयंकेणं, गिलाणो परितप्पई ।
पभीओ परलोगस्स, कम्माणुप्पेहि अप्पणो ॥

परलोक की उपेक्षा करने का परिणाम यह होता है कि ऐसा मनुष्य हिंसापरायण, मूढ़, असत्यभाषी, मायाचारी, चुगलखोर और धूर्त्त बन जाता है । वह जिस किसी भी उपाय से विषय-सुख प्राप्त करने की ही चेष्टा करता है । मांसभक्षण और मदिरापान में आसक्त हो जाता है और ऐसा करने में ही अपनी भलाई समझता है । वह पुण्य-पाप का भेद नहीं करता । अपने सुख के लिए बड़े से बड़ा अनर्थ कर डालने में उसे संकोच नहीं होता । अपने तुच्छ सुख के लिए दूसरों को बड़े से बड़ा कष्ट पहुँचा सकता है । ऐसा करने में ही आनन्द मानता है ।

कुछ काल के पश्चात् सहसा कोई व्याधि उत्पन्न हो जाती है तो रुग्ण होकर संतप्त होता है और अपनी पिछली करतूतों का विचार कर-करके भयभीत होता है । एक ओर तो शारीरिक पीड़ा से व्याकुल होता है और दूसरी ओर परलोकभय की सारी चिन्ता एवं भीति उसे आकुल करती है । इस प्रकार दोनों प्रकार के दुःखों से संतप्त होकर वह जीव अत्यन्त विषम स्थिति में पड़ जाता है ।

ज्ञानीजन वर्त्तमान को ही देखने वाले और भविष्य की उपेक्षा करने वाले बाल जीवों को सावचेत करते रहते हैं । ऐसे लोगों को ही समझाने के लिए चेले का दृष्टांत दिया गया है । गुरु

दीर्घदर्शी थे। उन्होंने भविष्य का विचार करके पोपा बाई का नगर त्याग दिया, मगर वर्त्तमान के प्रलोभन में पड़ कर चेला वहीं डटा रहा तो उसके प्राणों पर संकट आ पड़ा। इसी प्रकार जो जीव विषयभोगों में आसक्त होकर भविष्य की, परलोक की उपेक्षा करते हैं, वे भी मृत्यु के समय और पश्चात् घोर संकट में पड़ते हैं।

इस दृष्टान्त से एक बात और समझ लेनी है। इसके संबंध में कल थोड़ा कहा गया था। वह यह है कि शिष्य कभी गुरु की आज्ञा को भंग न करे। गुरु की बड़ी महिमा है। परीक्षा करके जिसे एक बार गुरु बना लिया हो और जब तक उस परीक्षा में कोई त्रुटि न जान पड़े, तब तक केवल उच्छृंखल वृत्ति से, स्वेच्छाचार करने की भावना से अथवा विषयलोलुपता से या किसी अन्य प्रकार की कठिनाई से गुरु की आज्ञा को उल्लंघन करना योग्य नहीं है। गुरु की परीक्षा इस कसौटी पर होती है:—

> निवर्त्तयन्यन्यजनं प्रमादतः,
> स्वयं च निष्पापपथे प्रवर्त्तते।
> गृणाति तत्त्वं हितमिच्छुरङ्गिनां,
> शिवार्थिनां यः स गुरुर्निगद्यते ॥

अर्थात्—जो अन्य मनुष्यों को प्रमाद से निवृत्ति कराता है और खुद पाप-रहित पथ में प्रवृत्ति करता है, तथा जो मुमुक्षु जीवों के हित का इच्छुक होकर उन्हें तत्त्व का ज्ञान कराता है, वही गुरु कहलाता है। क्योंकि—

विना गुरुभ्यो गुणनीरधिभ्यो,
जानाति तत्त्वं न विचक्षणोऽपि ।

अर्थात्--कोई पुरुष कितना ही कुशल और बुद्धिमान् क्यों न हो, पहुँचे हुए गुरु के बिना मर्म को नहीं जान सकता। जिसने स्वयं तत्त्व का अनुभव किया है, वही दूसरों को तत्त्व का दर्शन करा सकता है। तत्त्व के ज्ञान में वाणी का पाण्डित्य काम नहीं आता। व्याकरणशास्त्र और काव्यशास्त्र आदि तत्त्व की परछाई भी नहीं पा सकते। तत्त्व तो अनुभवगम्य है और अनुभव के लिए गुरु के पथप्रदर्शन की अनिवार्य आवश्यकता है। इसी कारण तो भाषाशास्त्रियों ने भी 'गुरु' शब्द का अर्थ अन्धकार का निवारण करने वाला किया है।

'गु' शब्दस्त्वन्धकारस्य, 'रु' शब्दस्तन्निरोधकः
अन्धकारनिरोधित्वाद् 'गुरु' रित्यभिधीयते ॥

'गु' शब्द का अर्थ अंधकार है और 'रु' शब्द का अर्थ उसे दूर करने वाला है। इस प्रकार जो अन्धकार को दूर करे वह 'गुरु' है।

इस विवेचन से गुरु की महिमा स्पष्ट हो जाती है। सच बात तो यह है कि आध्यात्मिक साधन का मार्ग बड़ा ही बीहड़ है। विषय-वासना का मार्ग तो चिरपरिचित है और सभी संसारी जीव उसके अभ्यस्त हैं; किन्तु अध्यात्म का पथ अभी तक प्रायः अपरिचित होता है। उसमें असंख्य विघ्न, अगणित बाधाएँ और अनेक अन्तराय हैं। उन पर विजय प्राप्त करके सफलतापूर्वक आगे बढ़ने के लिए एक पथदर्शक आवश्यक है।

उसके अभाव में लक्ष्य पर पहुँचना अत्यन्त कठिन है।

यही कारण है कि भारतवर्ष में चिरकाल से गुरु बनाने की प्रथा चली आ रही है। यही नहीं, पहले ज़माने गुरु में न बनाना और गुरुहीन रहना अपमानजनक समझा जाता था। 'निगोड़ा' कह कर आज जो गाली दी जाती है उसका अर्थ यही है कि तेरा कोई गुरु नहीं है। इससे जान पड़ता है कि हमारे यहाँ किसी समय आम तौर पर गुरु बनाने की प्रणाली प्रचलित थी। उस समय की जनता ने यह तथ्य समझ लिया था कि गुरु के बिना जीवन की नौका उसी प्रकार किनारे नहीं लग सकती, जिस प्रकार खेवटिया के बिना काष्ठ की नौका! अतएव प्रत्येक शिष्ट, संस्कारी और विचारवान् व्यक्ति अपना एक अनुभवी मार्गदर्शक चुन लेता था और उसी के बतलाये मार्ग पर चलता था।

खेद है कि आज वह प्राचीन प्रणालिका नष्ट-सी हो गई है। यही कारण है कि आज विचार और आचार के क्षेत्र में अराजकता फैल रही है। सभी अपने को स्वयंभू तत्त्वज्ञ समझ बैठे हैं और किसी तरह की मर्यादा नहीं रह गई है। आचार में भी वह उच्चता नहीं रह गई है। जीवन का आचारगत अंश आज जितना नीचे गिर गया है, उसे देखकर कल्पना भी नहीं की जा सकती है कि आगे चल कर मानवसमाज की क्या स्थिति होगी? लोग कितने नीचे जाकर ठहरेंगे या ठहरेंगे ही नहीं!

गुरु बनाकर भी गुरु के आदेश को तब तक मानना जब तक कि कोई असुविधा न हो या आराम मिलता हो, किन्तु इच्छा के प्रतिकूल आदेश मिलने पर अपनी मनमानी

करना; उचित नहीं है। ऐसा करने पर गुरु बनाने का कोई अर्थ ही नहीं रहता। गुरु बनाने का अर्थ तो तभी सिद्ध होता है जब इच्छा के प्रतिकूल होने पर भी बिना किसी दुविधा के उनका आदेश पालन किया जाय! इस संबंध में सैनिक और सेनापति का उदाहरण बहुत उपयुक्त है। सेनापति का आदेश होने पर सैनिक अपने प्राण दे देता है, पर आदेश से विरुद्ध वर्त्ताव नहीं कर सकता। यही बात गुरु और शिष्य के बीच होनी चाहिए। संभव है, सैनिक भय के कारण सेनापति की आज्ञा माने, मगर शिष्य का कर्त्तव्य है कि वह स्वेच्छा से गुरु के आदेश को शिरोधार्य करे! शिष्य को यह विश्वास होना चाहिए कि गुरु कभी अनुचित और अहितकर आज्ञा दे ही नहीं सकते! इस प्रकार की प्रगाढ़ श्रद्धा के साथ गुरु के प्रति समर्पित रहने वाला शिष्य निस्सन्देह कल्याण का भाजन बनेगा! उसकी अन्तरात्मा उज्ज्वल बनेगी!

इसमें सन्देह नहीं कि आज गुरु बनाने की जो प्रथा उठ-सी रही है, उसका एक कारण यह भी है कि गुरु कहलाने वाले लोग सच्चे गुरुत्व के योग्य नहीं है। जिनमें आचार और विचार की 'गुरुता' नहीं है, ऐसे व्यक्ति भी जब गुरु होने का दावा करने लगते हैं, तब लोगों की आस्था विचलित हो जाती है! ऐसे व्यक्तियों को लक्ष्य करके ही यह कहा गया है कि—

गुरवो विरलाः सन्ति, शिष्यसन्तापहारकाः।
गुरवो बहवः सन्ति, शिष्यवित्तापहारकाः॥

अर्थात्—अपने चेलों की धन-दौलत का अपहरण करने वाले गुरु तो गली-गली में भटकते फिरते हैं, किन्तु शिष्यों के संताप को दूर करने वाले गुरु विरले ही मिलते हैं।

यह बात पहले भी थी और आज भी है। संसार में सर्वत्र द्वन्द्व दृष्टिगोचर होता है। सारी सृष्टि ही गुण दोषमय है। फिर भी प्रत्येक मनुष्य अपनी अपनी समझ के अनुसार बुरों से बचता है। नकली सिक्के भी हैं। और असली सिक्के भी हैं। फिर भी कोई सिक्के का व्यवहार करना नहीं छोड़ता। नकली और असली की परख करना सीख लेता है और नकली सिक्के से बचता है। तो फिर गुरु के विषय में भी ऐसा ही क्यों नहीं किया जा सकता ?

सच्चे और झूठे गुरु की परीक्षा कर लो और जो परीक्षा में सच्चा साबित हो उसे गुरु बना लो। गुरु की पहचान बतलाई गई है। उसे और भी स्पष्ट रूप में समझ लो। सच्चा गुरु वह है जो—

योगीन्द्रः श्रुतपारगः समरसाम्भोधौ निमग्नः सदा ।
शांतिक्षान्तिनितांतदान्तिनिपुणो धर्मैकनिष्ठारतः ॥
शिष्याणां शुभचित्त शुद्धिजनकः संसर्गमात्रेण यः ।
सोऽन्यांस्तारयति स्वयंच तरति स्वार्थं विना सद्गुरुः ॥

तात्पर्य यह है कि जो योगिराज हो, श्रुत-शास्त्र रूपी समुद्र का पारगामी हो—जिसने शास्त्रों को भलीभाँति समझा हो, शान्त हो, क्षमाशील हो, अपनी इन्द्रियों का दमन करने वाला हो, जो एक मात्र धर्म में ही निष्ठावान् हो और जो अपने शिष्यों के चित्त में शुद्धता उत्पन्न कर दे, ऐसा गुरु ही सद्गुरु है। वही स्वयं तिरता है और दूसरों को भी तारता है।

भाइयो ! यह विशेषताएँ जिस व्यक्ति में पाई जाएँगी वह नकली गुरु न होगा। वह लोभी, लालची, ठग या स्वार्थी

न होगा। इसकी उपासना से आपका कल्याण ही होगा, कभी अकल्याण होने की संभावना नहीं। ऐसे गुरु को अपनी जीवन नौका का कर्णधार बनाओ और फिर उसके द्वारा प्रदर्शित पथ का ही अनुसरण करो। गुरु की आज्ञा से विमुख होकर चलोगे तो ठोकरें खानी पड़ेंगी, टक्करें झेलनी पड़ेंगी, रास्ता भूल जाओगे और अपनी मंजिल पर नहीं पहुँच सकोगे!

सच्चा गुरु ही तुम्हें परमात्मा बनने का मार्ग बतलाएगा। सच्चे गुरु के सान्निध्य में ही तुम्हें कल्याण की प्राप्ति होगी। आपकी आत्मा में जो अनन्त प्रकाश है, उसकी अभिव्यक्ति सद्गुरु की कृपा से होगी। सद्गुरु को आत्मसमर्पण करने से आनन्द ही आनन्द की प्राप्ति होगी।

१२-९-४९ }
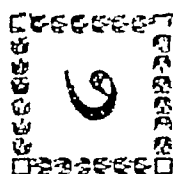
# ब्रह्मचर्य

स्तुतिः—

चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदशाङ्गनाभि-
नींतं मनागपि मनो न विकारमार्गम् ।
कल्पान्तकालमरुता चलिताचलेन,
किं मन्दराद्रिशिखरं चलितं कदाचित् ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं कि—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन् ! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय ? प्रभो ! कहाँ तक आपके गुण गाये जाएँ ?

इस जगत् में दो अक्षरों की एक चीज़ है। उसने सारे संसार को राजाओं-महाराजाओं को, पशुओं को, पक्षियों को, यहाँ तक कि देवताओं को भी अपने अधीन कर रक्खा है। वह है—काम।

सारा संसार काम के वशीभूत है। यदि ध्यान पूर्वक विचार किया जाय, गंभीरता पूर्वक सोचा जाय तो प्रतीत हुए बिना न रहेगा कि संसार में प्राणियों को जो कष्ट हैं, अनेक प्रकार की चिन्ताएँ है, मुसीबतें हैं, उलझनें हैं, उनमें से अधिकांश इसी काम का परिणाम है।

कामवासना सब से प्रबल वासना है। और इसी कारण उसके परिणाम स्वरूप घोर अतिघोर दुःखों का जन्म होता है। संसार के इतिहास पर दृष्टि डालिए तो पता चलेगा कि कामवासना की बदौलत बड़े-बड़े लोमहर्षक काण्ड हुए हैं। बड़े-बड़े शक्तिशाली, प्रचण्ड पराक्रम के धनी और शूरवीर योद्धा सम्राट् भी इसके चगुल में फँस कर बुरी मौत मारे गये। लंका का प्रतापी राजा रावण कामवासना का शिकार हुआ, यह तो जगत् में प्रसिद्ध ही है। भीम के द्वारा कीचक की मृत्यु किस कारण हुई थी ? द्रौपदी के सौन्दर्य ने उसके अन्तःकरण में काम की आग प्रज्वलित कर दी और उसी आग में कीचक भस्म हो गया ! कितने उदाहरण दिये जाएँ और किस-किसके नाम गिनाये जाएँ ? कामिनियों के लिए इस भूतल पर असंख्य युद्ध हुए है और असंख्य नौजवान योद्धाओं का रुधिर पानी की तरह बहा है। जो नामांकित थे, उनके नाम इतिहास के पन्नों में आ गये और अधिकाश यों ही चल बसे। उस समय भी किसी ने उनका नाम नहीं लिया तो अब तो उन्हें जानेगा ही कौन ? फिर भी उनकी सख्या थोड़ी नहीं, बहुत है।

किसी एक मनुष्य की काम वासना की प्रचण्ड आग में ही जब लाखों-करोड़ों की आहुति दी गई है, तो लाखों-करोड़ों और असंख्य मनुष्यों की वासना ने कितने योद्धाओं

की आहुति न ली होगी ? यदि ऐसे अभागे लोगों की संख्या हमारे सामने आती तो हमें गिनना असंभव हो जाता। यदि काम वासना की आग में भस्म हुए लोगों की राख इकट्ठी की जाय तो न जाने कितने कैलाश पर्वत बन जाएँगे ! इतने कैलाश खड़े हो जाएँगे कि इस असीम विश्व में और किसी वस्तु के लिए स्थान ही नहीं रहेगा ! अगर उन सब कैलाशों को तिल के बराबर मान कर इस भूतल पर स्थापित किया जाय तो भी सारा भूतल भर जायगा !

काम वासना के फल-स्वरूप अन्त में रोने वालों के आँसू एकत्र किये जाएँ तो अनेक सागरों से क्या कम होंगे ?

काम वासना मनुष्य को कितने कष्टों में डालती है ! इसी वासना से प्रेरित होकर मनुष्य किसी रमणी के साथ अपना संबंध स्थापित करता है। सन्तान की उत्पत्ति हो जाती है। परिवार बढ़ जाता है। उसके भरण-पोषण के लिए जीवन भर नाना प्रकार के कष्ट उठा कर धनोपार्जन करता है ! गधे की तरह भार ढोता है, समुद्र-यात्रा करता है, अतल जल में गोते लगाता है, युद्ध में सैनिक बन कर जाता है, सैकड़ों फुट गहरी खानों में काम करता है और अपनी जान को जोखिम में डालता है। कोई जघन्य से जघन्य वृत्ति अङ्गीकार करता है, नौकरी करके मालिक की झिड़कियाँ खाता है, अपमान और तिरस्कार सहन करता है ! कहाँ तक कहें काम वासना के विषमय बीज से जो विषवृक्ष लहराता है, उसके फलों का कहाँ तक वर्णन किया जाय ?

कई लोग परिवार का पालन-पोषण नहीं कर सकते तो चोरवृत्ति अङ्गीकार कर लेते हैं। कई डकैत बन जाते हैं।

कोई-कोई दूसरों की जेबें काटना सीख लेते हैं। धोखा और फरेब करते हैं। जब पकड़े जाते हैं तो पुलिस के डंडों की मार सहते हैं और वर्षों तक कारागार में पड़े-पड़े सड़ते रहते हैं! जब तक नहीं पकड़े जाते तब तक भी वे सुख-चैन से रहते हैं? नहीं, उन्हें रात-दिन पकड़े जाने की आशंका बनी रहती है, चित्त में व्याकुलता रहती है और क्षण भर भी निश्चिन्तता का सुख नहीं भोग सकते। इस प्रकार क्षणिक सुख प्रदान करने वाली कामुकता के वशवर्त्ती होकर मनुष्य न जाने कितने भयानक अनर्थों की सृष्टि कर लता है! वह अपने हित-अहित को सर्वथा भूल जाता है। किसी ने ठीक ही कहा है:—

दिवा पश्यति नोलूकः, काको नक्तं न पश्यति।
अपूर्वः कोऽपि कामान्धो, दिवा नक्तं न पश्यति॥

अर्थात्—उल्लू दिन में नहीं देखता और कौवा रात्रि में नहीं देख सकता, किन्तु कामान्ध-पुरुष उल्लू और कौवा से भी गया-बीता होता है; उसे न रात को दिखाई देता है, न दिन को दिखाई देता है। वह रात-दिन अधा ही बना रहता है!

एक दूसरे विद्वान् ने काम-वासनाजनित दोषों का इस प्रकार उल्लेख किया है:—

दोषाणामाकरः कामो, गुणानाञ्च विनाशकृत्।
पापस्य च निजो बन्धुरापदां चैव सङ्गमः॥

अर्थात् काम समस्त दोषों की खान है और समस्त सद्गुणों का विनाशक है। पापों का सहोदर भाई है और आपत्तियों-विपत्तियों को लाने वाला है।

वास्तव में कौन-सा ऐसा दोष है जो कामवासना के कारण उत्पन्न न होता हो? कामवासना किस पाप की जननी नहीं है? हिंसा, झूठ, चोरी आदि सभी पाप इस कुत्सित वासना के फलस्वरूप उत्पन्न हो जाते हैं।

कामवासना के कारण जिसका विवेक विलुप्त हो जाता है, वह विनय, शील, सन्तोष, भद्रता, लज्जाशीलता, कुलीनता आदि सभी को त्याग कर निर्लज्जता, उद्दण्डता आदि बुराइयों का शिकार हो जाता है! अपने पुरखाओं की कीर्त्ति को कलंकित करने में संकोच नहीं करता।

यही नहीं, कामी पुरुष वासना की प्रचण्ड आग में अपने शरीर की भी आहुति दे देता है! जिस शारीरिक सुख की प्राप्ति के लिए वह काम का सेवन करता है, वह शरीर गल कर, सड़ कर, निस्सत्व होकर, निर्बल और नाना प्रकार की व्याधियों का मंदिर बनकर क्षीण हो जाता है! इस पापमयी वासना ने न जाने कितने नवयुवकों को निस्सत्व, निस्तेज और निर्वीर्य बनाकर अकाल में ही काल के गाल में भेज दिया है! उन्हें जीते जी नारकीय वेदनाएँ भुगतनी पड़ती है। वे अपने किये पर पीछे पछताते हैं, किन्तुः—

फिर पछताये होत क्या, चिड़ियाँ चुग गई खेत।

श्रमण भगवान् महावीर ने काम-भोग के संबंध में बड़े ही गंभीर शब्दों में कहा हैः—

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा।
कामे पत्थेमाणा, अकामा जन्ति दोग्गइं॥
—उत्तराध्ययन, ९, ५३,

यह काम शल्य के समान व्याकुलता उत्पन्न करते हैं। सर्प के समान शीघ्र ही जीवन का अन्त कर देते हैं। काम की एक बड़ी विशेषता यह है कि काम का सेवन न करने पर भी, केवल अभिलाषा करने मात्र से जीव दुर्गति को प्राप्त कर लेते हैं।

जिस काम की कामना मात्र दुर्गति का कारण हो, उसके विषय में क्या कहा जाय ? किन शब्दों में उसकी निन्दा की जाय ?

भर्तृहरिजी ने अपने जीवन में घटित घटना का प्रभावशाली शब्दों में उल्लेख करते हुए कामान्धों को और काम को धिक्कारा है। वह कहते है:—

> यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता,
> साऽप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः ।
> अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या,
> धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मांच ॥

राजा भर्तृहरि अपनी रानी पर अत्यन्त आसक्त थे। उसे अपने प्राणों से भी अधिक चाहते थे। मगर खेद की बात है कि रानी ने अपना हृदय किसी अन्य पुरुष को ही समर्पित कर रक्खा है। रानी उस पर जान देती थी। किन्तु जगत् की विचित्रता तो देखिए कि उस पुरुष का प्रेम एक वेश्या पर था। वह रानी के बजाय वेश्या को ही अपनी आराध्य मानता था।

कहते है, एक बार राजा भर्तृहरि को अमृतफल मिला। उस फल की विशेषता यह थी कि जो खाय उसका यौवन अमर

बन जाय ! राजा ने फल पाकर सोचा–रानी मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय है। उसी को यह फल खिलाऊँ, तो उसका यौवन अमर हो जायगा। यह सोच कर उसने वह फल रानी को दे दिया।

बतलाया जा चुका है कि रानी का प्रेम अन्य पुरुष पर था। उसने राजा से वह फल ले लिया और अपने उस प्रेमपात्र पुरुष को दे दिया। उस पुरुष ने रागांध और कामांध होकर अपनी प्रेयसी वेश्या को भेंट कर दिया। वेश्या ने सोचा–मैं नीच आजीविका करके पेट पालती हूँ, सैकड़ों युवकों को पाप के पथ में प्रवृत्त करती हूँ ! मेरे चिर यौवन से पापों और अनर्थों की ही वृद्धि होगी ! इससे अच्छा तो यही है कि यह फल राजा को खाने के लिए दे दिया जाय ! राजा का जीवन प्रजा के हित के लिए है। उसका जीवन चिरकाल तक रहेगा तो देश का कल्याण होगा ! मुझे जीकर क्या करना है !

यह सोचकर वेश्या ने वह फल राजा को भेंट कर दिया। इस प्रकार राजा का दिया हुआ फल घूम-फिर कर फिर राजा के हाथ में ही आ गया। राजा ने जाँच-पड़ताल की तो सारा भेद खुल गया ! भेद ही नहीं खुल गया, उसके नेत्र भी खुल गये। सहसा उसके मुँह से निकल पड़ा—मैं दिन-रात जिसका स्मरण करता रहता हूँ--निरन्तर चिन्ता किया करता हूँ, वह ( रानी ) मुझ से विरक्त है, मुझे नहीं चाहती और दूसरे को ही चाहती है। वह पुरुष भी रानी को न चाह-कर दूसरी ( वेश्या ) को अधिक चाहता है और वेश्या मेरा कल्याण चाहकर सन्तोष प्राप्त करती है ! कितना अनोखा है यह संसार ! रानी को, उस पुरुष को, इस वेश्या को और

मुझको भी धिक्कार है जो इस कामवासना के कुचक्र में पड़कर अंधे हो रहे हैं ! कामवासना को भी हजार-हजार धिक्कार है जिसने मुझ जैसे और रानी जैसे कुलीनों को भी इस प्रकार अंधा बना रक्खा है !

भर्तृहरि की यह वाणी हृदय की वेदना को व्यक्त करती है। वास्तव में काम वासना बड़ी ही नीच वासना है। वह प्रिय जनों के साथ भी विश्वासघात कराती है, और कोई ऐसा घोर पाप नहीं जो यह न कराती हो !

कामी जीव को इसी जन्म में जो दुःख प्राप्त होते हैं, उन्हें कौन नहीं जानता ? किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि यहीं उसके कुपरिणामों का अन्त नहीं आ जाता। उसके पाप उसके साथ परलोक में भी जाते हैं और वहाँ ऐसी-ऐसी भयंकर यातनाएँ उसे भुगतनी पड़ती हैं कि शब्दों द्वारा कही नहीं जा सकती।

इस प्रकार कामवासना इह-परलोक में दुःखप्रद होने पर भी आश्चर्य है कि संसारी जीव उसके चंगुल में फँसे हैं ! विचार करते हैं तो प्रतीत होता है कि मनुष्य पशु, पक्षी आदि सब पर इस वासना का आतंक छाया हुआ है। सब इसके सामने नतमस्त हो रहे हैं ! स्वर्ग के निवासी देव और देवेन्द्र भी इसके चंगुल से बच नहीं पाते हैं।

तात्पर्य यह है कि काम वासना का प्रभाव व्यापक है। वीतराग जिनेन्द्र देव के सिवाय कोई नहीं दीखता, जिसने पूर्ण रूप से काम पर विजय प्राप्त की हो। वीतराग भगवान् की काम-विजय ही हमें आश्वासन देती है कि इस वासना को जीतना असंभव नहीं है। जिनेन्द्र देव ने काम को जीत कर

संसार के सामने यह आदर्श उपस्थित किया है कि आत्मा की शक्ति भी कम नहीं है। आत्मा यदि दृढ़ संकल्प के साथ अपने असली स्वरूप की ओर झुके तो काम वासना को जीत लेना कोई बड़ी बात नहीं है। भगवान् जिनेन्द्र का यह परम आदर्श हमारे समक्ष न होता तो संसार की क्या दशा होती ?

संसार में तो सवत्र काम वासना की ही आग सुलग रही है। औरों की बात छोड़िए, एकेन्द्रिय जीव-वृक्ष, बेल वगैरह-भी इसके प्रभाव से प्रभावित हैं। कहा भी है—

पादाहतः प्रमदया विकसत्यशोकः,
शोकं जहाति वकुलो मधुसीधुसिक्तः।
आलिंगितः कुरबकः कुरुते विकास—
मालोकितस्तिलक उत्कलितो विभाति ॥

अर्थात्—स्त्री के पैर की ठोकर खाकर अशोक वृक्ष विकसित हो जाता है, स्त्री के मुख के कुल्लों को पाकर वकुल खिल जाता है। स्त्री का आलिंगन पाकर कुरबक वृक्ष विकास को प्राप्त होता है। और स्त्री की दृष्टि पड़ने से तिलक खिल उठता है ! इससे प्रतीत होता है कि एकेन्द्रिय वनस्पति के जीव भी काम-वासना के प्रभाव से मुक्त नहीं हैं।

एक कवि ने क्या ही अच्छा चित्र खींचा है:—

कृशः काणः खञ्जः श्रवणरहितः पुच्छविकलो,
व्रणी पूयक्लिन्नः कृमिकुलशतैरर्चिततनुः।

क्षुधाक्षामो जीर्णः पिठरकपालावृतगलः,
शुनीमन्वेति श्वा हतमपि निहन्त्येव मदनः ॥

आह ! यह दुष्ट कामदेव मरे को भी मारता है ! दुबला, काना, लूला-लंगड़ा एक कुत्ता है। कान उसके सड़ कर गल गये है, पूंछ कट गई है ! शरीर में जगह-जगह घाव पड़े हैं और उनमें पीप भरा हुआ है। मवाद से लथपथ है ! घावों में सैकड़ों कीड़े बिलबिला रहे हैं ! भूख के मारे पेट पीठ से चिपक गया है। बूढ़ा हो गया है। गले में पीठर जन्तुओं का झुंड लगा हुआ है ! इस प्रकार दुर्दशा हो रही है ! फिर भी यह कुत्ता कुतिया के पीछे-पीछे दौड़ रहा है !

ऐसी दशा है संसारी जीवों की ! जिस वासना ने प्राणी मात्र के अन्तःकरण में इस प्रकार आसन जमा रक्खा हो, उसके विषय में क्या कहें और क्या न कहें ! वास्तव में इस वासना को जीतना साधारण बात नहीं है।

विश्वामित्र-पराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना-
स्तेऽपि स्त्रीमुखपंकजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः ।
शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं ये भुञ्जते मानवाः,
तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेत् विन्ध्यस्तरेत्सागरे ॥

अर्थात्—विश्वामित्र और पराशर जैसे ऋषि कठोर तप करते थे। कोई हवा खाकर ही तपस्या करते थे, कोई सिर्फ पानी पीकर ही साधना करते थे और कोई वृक्षों के सूखे पत्ते खाकर ही शरीर निर्वाह करते हुए तप करते थे। मगर वे भी स्त्री का मनोहर मुख देख कर मूढ़ बन गये—कामासक्त हो गए !

ऐसी स्थिति में जो लोग घी, दूध, के साथ उत्तम शालि अन्न खाते हैं, वे अपनी इन्द्रियों पर कैसे काबू पा सकते हैं। अगर विन्ध्य पर्वत समुद्र में तिर सके तो वे भी इन्द्रियों का निग्रह कर सकें। जैसे पर्वत का समुद्र में तिरना संभव नहीं उसी प्रकार पौष्टिक भोजन करने वालों के लिए इन्द्रियों का निग्रह करना संभव नहीं है। इन्द्रियों को प्रबल बनाने वाला, उन्माद उत्पन्न करने वाला, उत्तेजक भोजन विषयवासना की ओर प्रेरित करता है। ऐसा भोजन करके काम-विजय करना संभव नहीं है।

कामवासना को चरितार्थ करने के लिए लोगों ने अनेक उपाय निकाले हैं। तरह-तरह के बहाने खोजे हैं। किसी ने ऋतुमती स्त्री साथ सयोग करने को धर्म बतला दिया है और कोई कहते हैं कि कामभोग की प्रार्थना करने वाली स्त्री को निराश करना अधर्म है! वे इसमें परोपकार की कल्पना करते हैं और स्त्री प्रसङ्ग को निर्दोष कहते है। प्राचीन काल में भी ऐसे विचार वाले इस देश में मौजूद थे। उनका मन्तव्य शास्त्रो में बतलाया गया है। कहा है—

जहा गंडं पिलागं वा, परिपीलेज्ज मुहुत्तगं।
एवं विन्नवणित्थीसु, दोसो तत्थ कओ सिया ?॥

—सूत्रकृतांग १, ३-४,

अर्थात्—कई-एक अज्ञानी मनुष्य ऐसा कहते हैं कि जैसे फोड़े को दबाकर मवाद निकाल देने से थोड़ी देर के बाद शान्ति का अनुभव होता है, इसी प्रकार समागम की प्रार्थना करने वाली स्त्री के साथ समागम करने से थोड़ी देर में ही

शान्ति हो जाती है। अतएव इस प्रकार समागम करने से दोष कैसे हो सकता है?

कामासक्तजनों का मन्तव्य बतला कर शास्त्रकार कहते हैं—

एवमेगे उ पासत्था, मिच्छदिट्ठी अणारिया।
अज्झोववन्ना कामेहिं, पूयणा इव तरुणए॥
—सूत्रकृतांग, १, ३-१३,

अर्थात्—इस प्रकार स्त्रीसमागम को निर्दोष बतलाने वाले पुरुष पासत्था हैं—आचार से ढीले हैं, मिथ्यादृष्टि हैं और अनार्य हैं। जैसे पूतना डाकिनी स्तन पीने वाले बालकों पर आसक्त रहती है, उसी प्रकार यह अनार्य पुरुष कामभोगों में आसक्त हैं!

भाइयो! कहने का आशय यही है कि कामवासना ने व्यापक रूप धारण कर रक्खा है। एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय मनुष्य और देवता भी इस भयानक आग में जल कर आत्मा के सद्गुणों को भस्म कर रहे हैं। यह आग बड़ी बुरी तरह प्राणियों को जला रही है। इस आग की विशेषता यह है कि इसमें जल कर भी लोग जलन का अनुभव नहीं करते; बल्कि शान्ति समझते हैं। यह आग सब से पहले प्राणी के विवेक को ही नष्ट करती है और जब उसका विवेक नष्ट हो जाता है तो फिर उसे हित-अहित का भान ही नहीं रहता।

किन्तु भगवान् ऋषभदेव काम-सुभट के विजेता हैं। उन्होंने कामवासना को पूर्ण रूप से जीत लिया है। वे पूर्ण

निष्काम, जितेन्द्रिय और वीतराग हैं। उन्होंने काम को इस प्रकार जीत लिया है कि चाहे स्वर्ग की अप्सराएँ भी आकर सामने खड़ी हो जाएँ और तरह-तरह के हाव-भाव भी दिखलाएँ तो भी उन्हें विकार-मार्ग की ओर नहीं ले जा सकतीं। जब भगवान् ने काम-वासना को ही समाप्त कर दिया है, तब देवांगनाएँ भी उन्हें विपरीत रास्ते पर कैसे ले जा सकती हैं? जगत् की कोई भी शक्ति उन्हे भोग-विलास की ओर आकर्षित नहीं कर सकती। प्रथम तो प्रबल से प्रबल आँधी भी सुमेरु पर्वत के शिखर को चलायमान नहीं कर सकती। कल्पना कर ली जाय कि कदाचित् सुमेरु भी आंधी से चलायमान हो जाय तो भी भगवान् का मन विकार-मार्ग में नहीं जा सकता।

भगवान् तीर्थंकर अचानक ही तीर्थंकर नहीं बन जाते हैं। अनेक पूर्व जन्मो में वे सत्संस्कारों का संचय करते हैं और आत्मा को क्रमशः उज्ज्वल और पवित्र बनाते हैं। उनकी आत्मा के उच्च संस्कार जब अत्यन्त निर्मल बन जाते हैं, आत्मा विशुद्ध बन जाती है, तब कहीं तीर्थंकर के रूप में उनका जन्म होता है।

कई लोग कहते हैं और समझते हैं कि आत्मा कोरे कागज़ के समान, पूर्वजन्म के संस्कारों से रहित होकर जन्म लेता है। किन्तु वास्तविक बात ऐसी नहीं है। मनुष्यों के स्वभाव का, विचारो का और जीवन का यदि गंभीर और बारीक दृष्टि से अध्ययन किया जाय तो यह सचाई सूर्य के प्रकाश की तरह स्पष्ट हो जायगी। बचपन में ही बालकों के स्वभाव में एक विशेष अन्तर देखा जाता है। एक ही घर में जन्म लेने पर भी, समान वातावरण में पलने पर भी और एक-सी शिक्षा

मिलने पर भी कोई बालक शान्त, गंभीर और सात्विक प्रकृति का होता है और दूसरा क्रोधी चिड़चिड़ा, क्रूर स्वभाव वाला होता है। एक बुद्धिमान् और दूसरा बुद्धू होता है। इस प्रकार अनेक तरह की भिन्नताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। कभी आपने विचार किया है कि इसका कारण क्या है ?

बाहरी कारण समान होने पर भी जब इस स्वभावभेद का अस्तित्व है तो यही परिणाम निकाला जा सकता है कि पूर्व जन्म के संस्कार ही उन्हें प्रभावित करते हैं।

तीर्थङ्कर भगवान् के संबंध में इसी दृष्टि से विचार करें। भगवान् जन्म से ही तीन ज्ञान के धनी होते हैं। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के साथ उन्हे अवधिज्ञान भी प्राप्त होता है। अब आप विचार करें कि आत्मा पूर्व भव के संस्कारों को साथ न लाता तो उन्हें अवधिज्ञान कैसे प्राप्त हो जाता ? अवधिज्ञान की प्राप्ति के लिए उन्हें इस जन्म में कोई साधना नहीं करनी पड़ती।

सामान्य साधकों को घोर तपश्चर्या करने के पश्चात् मनःपर्यायज्ञानावरण का क्षयोपशम होता है और तभी मनःपर्याय ज्ञान की प्राप्ति होती है; किन्तु तीर्थङ्कर भगवान् इधर दीक्षा लेते हैं और उधर मनःपर्यायज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।

इससे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि पूर्व जन्म के संस्कार अवश्य ही आत्मा में संचित रहते हैं और वर्त्तमान जीवन बहुत कुछ उन्हीं संस्कारों से प्रभावित एवं संचालित होता है।

इन्हीं पूर्वसंचित संस्कारों के कारण भगवान् ऋषभ-देवजी ने अनायास ही कामवासना को भस्म कर दिया था ! धन्य हैं वह भगवान् ऋषभदेव जिन्होंने कामविजय करके

जगत् के सामने एक अनूठा आदर्श उपस्थित किया। उन्हीं भगवान् को हमारा वारंवार नमस्कार है।

भाइयो ! जिसने कामदेव को जीत लिया, समझ लो कि उसने विश्व को जीत लिया और जो काम से परास्त हो गया गया वह सब से परास्त हो गया।

कामविकार को जीतना कठिन तो है, परन्तु असंभव नहीं है। कई लोग इसे असभव कार्य समझते हैं। कई यूरोप के डॉक्टर भी इसी भ्रमपूर्ण विचार का समर्थन करते हैं। परन्तु उन वेचारों को आत्मतत्त्व का भान नहीं है। उन्होंने आत्मा की शक्ति को पहचाना नहीं है। उनके देश में तीर्थङ्कर जैसे महान् इन्द्रियविजेता महापुरुषों के आदर्श प्रचलित नहीं हैं। उन्होंने ब्रह्मचर्य की आध्यात्मिक दृष्टिकोण से जो महत्ता है, उसे हृदयंगम नहीं किया है। इसी कारण उसे धार्मिक महत्त्व भी वैसा नहीं दिया है। ऐसी स्थिति में अगर वे ऐसा कहें तो कह सकते हैं, परन्तु हम भारतीयों को न तो ऐसा कहना चाहिए और न समझना ही चाहिए। हमारे यहाँ कामविजयी महात्माओं की जीवनियाँ विद्यमान हैं और उनकी साधना की परम्परा भी यत्किंचित् रूप में मौजूद है। अतएव उनके भ्रम में हम क्यों पड़ें ? यही नहीं, हमारा कर्त्तव्य तो यह है कि हम उनके भ्रान्त विचारों को प्रशस्त करें।

वीतराग देव की उपासना करने वाले भलीभाँति जानते हैं कि काम रूप विकार स्वाभाविक नहीं है। वह आत्मा का सहज गुण नहीं है। परपदार्थों के संयोग से ही इस विकार की उत्पत्ति होती है। जो विकार आत्मा की अपनी निर्बलता और भूल से उत्पन्न हुआ है, उसे आत्मा विनष्ट भी कर सकती है।

अब प्रश्न हो सकता है कि काम विकार को किस उपाय से जीता जाय ? इस प्रकार का उत्तर बहुत व्यापक है। ब्रह्मचर्य की साधना के लिए साधकों को बहुत-से नियमों का पालन करना पड़ता है और शास्त्रों मे उन नियमों का विशद रूप से वर्णन किया गया है। श्रीउत्तराध्ययनसूत्र में तो इस विषय पर एक अलग अध्ययन ही है। उसकी कुछ गाथाएँ इस प्रकार हैं—

जं विवित्तमणाइण्णं, रहियं इत्थिजणेण य।
बंभचेरस्स रक्खट्ठा, आलयं तु निसेवए॥

मणपल्हायजणणी, कामरागविवड्ढिणी।
बंभचेररओ भिक्खू, थीकहं तु विवज्जए॥

समं च संथवं थीहि, संकहं च अभिक्खणं।
बंभचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए॥

अंगपच्चंगसंठाणं, चारुल्लवियपेहियं।
बंभचेररओ थीणं, चक्खुगिज्झं विवज्जए॥

कूइअं रुइयं गीयं, हसियं थणिय कंदियं।
बंभचेररओ थीणं, सोमगिज्झं विवज्जए॥

—उत्तराध्ययन, अ. १६, गा. १-५

ब्रह्मचर्य के साधक को सब से पहले विजातीय आकर्षण से बचने का प्रयत्न करना चाहिए। पुरुष के लिए विजातीय आकर्षण स्त्री है और स्त्री के लिए पुरुष है। यह आकर्षण ब्रह्मचर्य की साधना में सब से बड़ा बाधक है। अतएव ब्रह्मचर्य

की साधना के लिए आवश्यक है कि वह अपने आसपास ऐसे वातावरण का निर्माण करे कि यह आकर्षण उत्पन्न न होने पावे। अगर ब्रह्मचर्य का साधक पुरुष है तो उसे ऐसी जगह रहना चाहिए जहाँ स्त्रियों का निवास न हो, जहाँ स्त्रियों का आवागमन न होता हो।

मन में आह्लाद उत्पन्न करने वाली और काम-राग को बढ़ाने वाली स्त्री-संबंधी बातचीत करने से बचना चाहिए।

ब्रह्मचर्य का साधक स्त्रियों के साथ घनिष्ठता न बढ़ाए, अत्यन्त परिचय न करे और बार-बार उनसे वार्त्तालाप न करे।

ब्रह्मचारी नारी के अंग-उपांगों की बनावट की ओर ध्यान न जाने दे। आशय यह है कि चक्षु से दिखाई देने वाली किसी भी चेष्टा को, न देखे।

ब्रह्मचारी कानों से सुनाई देने वाले स्त्री के चहकने, बोलने, गाने, हँसने, रोने-चिल्लाने आदि व्यापारों को सुनने की चेष्टा न करे।

ब्रह्मचर्य की साधिका कोई नारी हो तो उसे पुरुष से इसी प्रकार बचना चाहिए।

इन बातों पर अमल करने से साधक के चित्त में उद्वेग उत्पन्न करने के निमित्त कम हो जाएँगे और उसकी साधना में बहुत सहूलियत होगी। किन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि इतने मात्र से उसकी साधना सम्पन्न हो जाएगी। साधना की सम्पन्नता के लिए तो उसे निरन्तर अभ्यास करना होगा और अन्यान्य नियमों का भी पालन करना होगा।

ब्रह्मचर्य की साधना का संबंध जैसे आँख और कान के साथ है, उसी प्रकार जीभ के साथ भी है। आँखों और कानों पर कितना ही नियत्रण क्यों न रक्खा जाय, अगर जीभ पर नियंत्रण न किया तो साधना किसी भी समय मिट्टी में मिल सकती है। पौष्टिक, मादक और उत्तेजक भोजन करने वाला ब्रह्मचर्य का आराधन नहीं कर सकता। इसीलिए कहा है:—

पणीयं भत्तपाणं तु, खिप्पं मयविवड्ढणं।
बंभचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए॥

ब्रह्मचर्य में अनुराग रखने वाला साधक पौष्टिक भोजन का, जो शीघ्र ही उन्माद को बढ़ाता है, सदैव त्याग करे।

इसी प्रकार अतिभोजन का त्याग करना, शरीर का सिंगार करना, आँख कान और जीभ के अतिरिक्त भी समस्त इन्द्रियों के भोगोपभोग से बचना आवश्यक है। इसके सिवाय एक महत्वपूर्ण बात है अपने मन को पवित्र रखने की। उसके विषय में कहा है:—

धम्मारामे चरे भिक्खू, धिइमं धम्मसारही।
धम्मारामरत्ते दंते, बंभचेरसमाहिए॥

ब्रह्मचर्य के साधक को बड़ी सावधानी के साथ अपने मन की चौकसी करनी चाहिए। मन अत्यन्त चपल है और धृष्ट है। वह बार-बार रोकने पर भी विषयों की ओर भागने लगता है। जरा भी असावधानी हुई नहीं कि वह दौड़ गया। अतएव साधक को चाहिए कि वह मन की निगरानी करता

रहे। मगर मन कभी बेकार नहीं रहता । यह ऐसा भूत है कि
कभी क्षण भर भी खाली नहीं रहता । अतएव उसे उलझाये
रखने के लिए धर्म के आराम ( उद्यान ) में विचरण करना
उचित है । मन को आत्मचिन्तन, तत्त्वचिन्तन, श्रुतपरिशीलन,
और बारह अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन आदि मे लगाये रखना
चाहिए ।

इस प्रकार सतत सतर्क रहने से और पुनः पुनः अभ्यास
करते रहने से मन भी वशीभूत हो जाता है और इन्द्रियाँ भी
संयत हो जाती हैं। इन्द्रियों और मन का पूर्ण रूप से संयत हो
जाना ही वास्तविक और परिपूर्ण ब्रह्मचर्य की साधना है।
इस साधना में जिन्होंने सफलता प्राप्त करली है, वे अपूर्व
ओजस्वी, तेजस्वी और यशस्वी बन जाते हैं। उनकी आत्मा
अद्भुत और अनिर्वचनीय ज्योति से उद्भासित हो उठती है।
उसमें अचिन्त्य और अतर्क्य शक्ति आ जाती है। उसकी
आत्मा के प्रभाव से सकल चराचर जगत् प्रभावित हो जाता
है। उसके संकल्प में अपूर्व बल होता है। उसकी इच्छाशक्ति
अजेय और अपराभूत हो जाती है । वह अपने आत्मबल से
त्रिलोकी पर शासन करता है । उसके अन्तस्तल में शान्ति
और तृप्ति का वह विमल धवल अखण्ड स्रोत प्रवाहित होने
लगता है कि सारे संसार का श्रेष्ठतम वैभव भी उसके समक्ष
नगण्य है ! उसकी आत्मा परम शीतल, निस्ताप, निष्पाप,
और निरञ्जन हो जाती है ।

मानवसृष्टि ही नहीं, पशुजगत् भी उससे प्रभावित होता
है । देवदानव भी उसके चरणों के दास बन जाते हैं।

ऐसा प्रभावशाली है ब्रह्मचर्य धर्म ! इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—

एस धम्मे धुवे निच्चे, सासए जिणदेसिए ।
सिद्धा सिज्झन्ति चाणेण, सिज्झिस्संति तहावरे ॥

—उत्तराध्ययन, १६-१७.

यह धर्म ध्रुव है, नित्य है शाश्वत है । युग के अनुसार आचार-विचार में परिवर्त्तन हो जाता है, किन्तु ब्रह्मचर्य संबंधी आचार-विचार में किसी भी काल में, किसी भी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं हो सकता । कामविजयी वीतराग प्रभु ने इस धर्म का उपदेश दिया है, अतएव यह कोई सामान्य धर्म नहीं है । ब्रह्मचर्य का आचरण करके ही अनन्त आत्माओं ने भूतकाल में सिद्धि प्राप्त की है, वर्त्तमान काल में सिद्धि प्राप्त करती हैं और भविष्य में सिद्धि प्राप्त करेंगी । ब्रह्मचर्य के विना कभी किसी को सिद्धि प्राप्त नहीं होती ।

प्रश्नव्याकरणसूत्र में ब्रह्मचर्य का अत्यन्त ही प्रभावपूर्ण शब्दों में वर्णन किया गया है । इसे उत्तम तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व और विनय का मूल बतलाया है और इसकी श्रेष्ठता का प्रतिपादन करने के लिए बत्तीस उपमाएँ दी गई हैं । वह उपमाएँ इस प्रकार हैं:—

(१) जैसे समस्त नक्षत्रों में चन्द्रमा प्रधान है, उसी प्रकार सब धर्मों में ब्रह्मचर्य प्रधान है ।

(२) जैसे मणि मुक्ता आदि की खानों में समुद्र प्रधान है, उसी प्रकार सब धर्मों में ब्रह्मचर्य प्रधान है ।

(३) मणियों में वैडूर्य मणि के समान ब्रह्मचर्य सर्वोत्तम धर्म है।

(४) जैसे आभूषण सभी सुन्दर होते हैं, परन्तु मुकुट उन सब में प्रधान माना गया है. उसी प्रकार सब धर्म श्रेष्ठ हैं किन्तु ब्रह्मचर्य उन सब में श्रेष्ठ है।

(५) वस्त्रों में क्षौमयुगल-कपास के बने वस्त्रों की तरह धर्मों में ब्रह्मचर्य उत्तम है।

(६) जैसे पुष्पों में कमल पुष्प सर्वश्रेष्ठ है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है।

(७) जैसे अनेक प्रकार के चन्दनों में गोशीर्ष चन्दन श्रेष्ठ है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य सर्वश्रेष्ठ है।

(८) जैसे औषधों-जड़ियों और बूटियों के उत्पत्तिस्थानों में हिमवान् पर्वत प्रधान है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य सब धर्मों में प्रधान है।

(९) जैसे नदियों में शीतोदा नदी प्रधान है, उसी तरह धर्मों में ब्रह्मचर्य प्रधान है।

(१०) सब समुद्रों में स्वयंभूरमण के समान ब्रह्मचर्य सर्वप्रधान धर्म है।

इसी प्रकार—

(११) मांडलिक पर्वतों में रुचक पर्वत के समान (१२) हाथियों में ऐरावत हाथी के समान (१३) पशुओं में सिंह के समान (१४) सुपर्ण कुमारों में वेणुदेव के समान (१५) नागकुमार देवों में धरणेन्द्र के समान (१६) बारह देवलोकों में ब्रह्म-

लोक के समान (१७) सभाओं में सुधर्मा सभा के समान (१८) स्थितियों में अनुत्तरविमानवासी देवों की स्थिति के समान (१६) दानों में अभयदान के समान (२०) कंबलों में कृमिराग-रक्त कंबल के समान (२१) संहननों में वज्रऋषभनाराच संहनन के समान (२२) संस्थानों में समचतुरस्र संस्थान के समान (२३ ध्यानों में शुक्लध्यान के समान (२४) पाँच ज्ञानों में केवल-ज्ञान के समान (२५) लेश्याओं में शुक्ललेश्या के समान (२६) मुनियों में तीर्थंकर के समान (२७) क्षेत्रों में महाविदेह के समान (२८) पर्वतों में सुमेरु के समान (२९) वनों में नन्दन वन के समान (३०) वृक्षों में जंबू वृक्ष के समान (३१) राजाओं में चक्रवर्ती के समान और (३२) रथिकों में महारथी के समान ब्रह्मचर्य व्रत सब व्रतों में महान् और प्रधान है।

इससे आगे इसी शास्त्र में बतलाया गया है

'एवमणेगा गुणा अहीणा भवंति एक्कम्मि बंभचेरे। जंमि य आराहियंमि आराहियं वयमिणं सव्वं। सीलं तवो य विणओ य संजमो य खंती गुत्ती मुत्ती, तहेव इहलोइय पारलोइय जसे य कित्ती य पच्चओ य। तम्हा निहुएणं बंभचेरं चरियव्वं।'

—प्रश्नव्याकरण, संवरद्वार ४,

अर्थात्–अकेले ब्रह्मचर्य के पालन करने पर अनेक गुण प्रतिपूर्ण हो जाते हैं। ब्रह्मचर्य का पालन करने पर ही अखण्ड व्रत का पालन होता है। शील, तप, विनय, संयम, क्षमा, गुप्ति, निर्लोभता, इस एवं परलोक संबंधी यश-कीर्त्ति और विश्वास

का ब्रह्मचर्य ही कारण है। अतएव एकाग्र होकर ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।

शास्त्र के इस वर्णन से अनायास ही समझ में आ सकता है कि तत्त्वज्ञानियों की निगाह में ब्रह्मचर्य का कितना महत्त्व है? ब्रह्मचर्य की प्रधानता बतलाने के लिए दो-चार नहीं, बत्तीस उपमाएँ दी गई हैं!

भाइयो! इस लोक के और परलोक के कल्याण के लिए ब्रह्मचर्य की आराधना करो। ब्रह्मचर्य को ही सच्चा जीवन समझो। संसार-सागर से तिरने का यही मार्ग है। कहा भी है--

समुद्रतरणे यद्वदुपायो नौः प्रकीर्तिता।
संसारतरणे तद्वत्, ब्रह्मचर्यं प्रकीर्तितम्॥

जैसे--समुद्र को पार करने का उपाय नौका है, उसी प्रकार जन्म--मरण आधि, व्याधि, उपाधि आदि से बचने का उपाय ब्रह्मचर्य है।

यह तो ब्रह्मचर्य की पारलौकिक उपयोगिता है। मगर ब्रह्मचर्य की इस लोक संबंधी उपयोगिता भी कम नहीं है। यथा-

चिरायुषः सुसंस्थाना दृढसंहनना नराः।
तेजस्विनो महावीर्या, भवेयुर्ब्रह्मचर्यतः॥
शान्तिं कान्तिं स्मृतिं ज्ञानमारोग्यञ्चापि सन्ततिम्।
य इच्छति महद्धर्मं, ब्रह्मचर्यं चरेदिह॥

ब्रह्मचर्य के प्रभाव से मनुष्य दीर्घजीवी होते हैं तथा सुन्दर आकृति से सम्पन्न, मज़बूत हड्डियों वाले, तेजस्वी और

प्रचण्ड शक्ति से युक्त होते हैं। जो मनुष्य शान्ति का इच्छुक है, कान्तिमान् बनना चाहता है। स्मरणशक्ति बढ़ाने की अभिलाषा रखता है, बुद्धि की वृद्धि चाहता है, शरीर को रोगों से बचाना चाहता है और उत्तम सन्तान चाहता है उसे ब्रह्मचर्य रूप महान् धर्म का आचरण करना चाहिए।

लोग प्रायः शक्ति बढ़ाने के लिए अनेक प्रकार की औषधियों का सेवन करते हैं। कोई-कोई स्मरणशक्ति मंद हो जाने का रोना रोया करते हैं। नीरोगता के लिए वैद्यों और डॉक्टरों की गुलामी करते हैं। इसके लिए धनी लोग पानी की तरह पैसा बहाते हैं। फिर भी उन्हें यथेष्ट सफलता नहीं मिलती। उनकी शक्ति दिनोंदिन क्षीण होती जाती है। उन्हें अन्त में घोर निराशा होती है। इसका कारण ब्रह्मचर्य का पालन न करना ही है। जिन्होंने अपने ऊपर काबू नहीं रक्खा और अपने वीर्य को पानी की तरह बहाया, वे पैसे को पानी की तरह बहा कर भी अपने प्राणों की रक्षा नहीं कर सकते। उनका जीवन भारभूत हो जाता है। ब्रह्मचर्य के अभाव में मूलभूत प्राणशक्ति का ह्रास हो जाता है तो बाहरी उपचार क्या काम आएँगे? दीपक में तेल ही न होगा तो लाख प्रयत्न करो, वह प्रदीप्त नहीं होगा। इसी प्रकार शरीर में वीर्यशक्ति नहीं है तो कोई औषध, रसायन, भस्म आदि काम नहीं आ सकती। इसके विपरीत यदि आपने अपने वीर्य की रक्षा की है तो आपको स्वतः नीरोगता प्राप्त होगी। आपका जीवन आनन्ददायक होगा!

अतएव मनुष्य के लिए उचित तो यही है कि वह पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करे, फिर भी प्रत्येक के लिए यह संभव नहीं है।

अतएव जो पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करने में असमर्थ हों उन्हें भी कम से कम मर्यादित ब्रह्मचर्य–एकदेश ब्रह्मचर्य–का तो पालन करना ही चाहिए। मर्यादित ब्रह्मचर्य का अर्थ यह है कि परस्त्री को माता–बहिन के समान समझ कर कभी उस पर बुरी दृष्टि न डाली जाय, परस्त्री सेवन का पूर्ण रूप से परित्याग किया जाय और स्वस्त्री के साथ भी अतिरमण से बचा जाय। इन दो बातों पर पूरी तरह ध्यान देने से परिपूर्ण ब्रह्मचर्य की योग्यता प्राप्त हो सकती है। जो गृहस्थ पूर्ण ब्रह्मचर्य के पालन को अपने जीवन का ध्येय समझ कर वर्त्ताव करेगा, वह मर्यादित जीवन यापन करता हुआ अवश्य ही अपने ध्येय को प्राप्त कर सकेगा।

भाइयो ! इस आर्यावर्त्त में एक से एक महान् ब्रह्मचारी हो चुके हैं। आज भी उनका उज्ज्वल यश सर्वत्र फैला हुआ है। पितामह भीष्म जीवन भर कुंवारे रहे। उन्होंने विवाह न करके ब्रह्मचर्य का पालन किया। ब्रह्मचर्य के प्रताप से उन्हें जो महान् शक्ति प्राप्त हुई थी, उसने उन्हें अमर कर दिया ! वे आज भी जन–जन के मानस में विद्यमान हैं। वे अविवाहित रह कर और सन्तान न उत्पन्न करके भी जगत् के पितामह कहलाए। भगवान् अरिष्टनेमि का आदर्श आपके सामने है। कहाँ तक नाम गिनाएँ ? भारत तो अनेकानेक ऐसी पुण्य-विभूतियों से पावन हो चुका है जिन्होंने ब्रह्मचर्य के प्रताप से महान् लौकिक और लोकोत्तर सफलताताएँ प्राप्त की थीं। अपना भला चाहते हो, अपनी सन्तान का हित चाहते हो, देश और जाति का कल्याण चाहते हो, अरे अपने प्राणों की रक्षा चाहते हो तो ब्रह्मचर्य की शरण लो। अपने कमरे की दीवार के साथ हृदय की दीवार पर भी यह वाक्य अंकित कर लो:—

मरणं बिन्दुपातेन,

जीवनं बिन्दुधारणात् ।

वीर्यरक्षा जीवन है और वीर्य का विनाश मौत है ।

इस आदर्शवाक्य को सामने रख कर ब्रह्मचर्य का पालन करोगे तो समस्त ऋद्धियाँ और सिद्धियाँ आपके चरणों में लोटेंगी । आपका परम कल्याण होगा और आनन्द ही आनन्द होगा !

१३-९-४६ }

# पुण्य-पाद्य
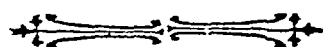
यैः शान्तरागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वं,
निर्मापितस्त्रिभुवनैकललामभूत !
तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्यां,
यत्ते समानमपरं न हि रूपमस्ति ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं कि–हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन् ! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय ? प्रभो ! कहाँ तक आपके गुण गाये जाएँ ?

तीन लोक में अद्वितीय सौन्दर्यशाली प्रभो ! जिन परमाणुओं से आपका शरीर बना है, जान पड़ता है कि वे परमाणु जगत् में उतने ही थे। ऐसी संभावना करने का कारण यह है

कि आपके शरीर के समान सुन्दर शरीर जगत् में दूसरा कोई दिखाई नहीं देता।

भाइयो! भगवान् ऋषभदेव का शरीर ऐसे असाधारण परमाणुओं से बना था कि उनके शरीर को देखने वालों को भी शान्ति प्राप्त होती थी। उनका शरीर अद्वितीय रूप में सुन्दर था!

किसी पात्र में रक्खी हुई वस्तु बाद में नज़र आती है, पात्र पहले ही नज़र आ जाता है। इस नियम के अनुसार शरीर सम्पदा अच्छी हो तो पता चल जाता है कि यह कोई महान् आत्मा है। भगवान् की शरीर सम्पदा अपूर्व और अद्भुत थी। उनके दर्शन करने मात्र से दर्शक के चित्त पर गहरी छाप पड़ती थी। उनके समक्ष पहुंचने पर स्वतः मस्तक नम्रीभूत हो जाता था। जिन आदिदेव भगवान् ऋषभदेव की अद्भुत तेजोमय, प्रशान्त और प्रभावशाली काया ही मनुष्य को नम्रीभूत बना देती है, उन प्रभु को ही हमारा बार-बार नमस्कार हो!

भगवान् की शरीरमुद्रा का वर्णन करते हुए एक जैन-कवि ने सुन्दर कल्पना की है। वे कहते हैं:—

> सोहइ जस्स सुसंगय-उभयंसलुलंतकुन्तलकलावा।
> मुत्ती सुवन्नवन्ना सकज्जलग्गव्व दीवसिहा॥
> जस्स पणामा पावइ पलयं पउरो वि विग्घसंघाओ।
> तस्स रिसहस्स पढयं, नमामि पययंकयं पयओ॥

—सुरसुंदरीचरिअं, १, गा. ३-४.

भगवान ऋषभदेव की मुद्रा सुवर्णवर्ण की थी। उनका समस्त शरीर स्वच्छ सोने के समान दमकता था। उनके दोनों कंधों पर अत्यन्त संगत और घुंघराले बालों के गुच्छे लटकते थे। इस प्रकार उनके सुनहरे शरीर पर काले--काले केश ऐसे दिखाई देते थे जैसे दीपक की शिखा के अग्रभाग पर कज्जल हो!

जिस को प्रणाम करने से विशाल से विशाल पापों का समूह भी नष्ट हो जाता है, उन ऋषभदेव प्रभु को मैं सबसे पहले अत्यन्त सावधान होकर प्रणाम करता हूँ।

भाइयो! भगवान् के शरीर की महिमा का गान किस प्रयोजन से किया गया है? कवियों की परम्परा का पालन करने के लिए ही भगवान् का शरीर--वर्णन नहीं किया गया है। आगमों में भी शरीर सम्पदो का वर्णन है। उववाईसूत्र में तीर्थंकर भगवान् के एक--एक अंग को विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है। वह वर्णन बड़ा ही सुन्दर और काव्यमय है। उससे प्रतीत होता है कि तीर्थंकर भगवान् का शरीर कितना सुभग होता है!

वास्तव में सुन्दर शरीर भी पुण्य का फल है। कोई राजा हो और उसका शरीर सुडौल और सुन्दर हो तो वह राजा जँचता है और उसका प्रभाव भी पड़ता है। यदि सेठ भी अच्छा रूपवान् हो तो वह भी प्रतिष्ठित होता है। आचार्य का शरीर रूपवान्, तेजस्वी और देदीप्यमान होता है तो उसका भी बड़ा प्रभाव पड़ता है। उन्हें देख कर अन्य मतावलम्बी भी सोचते हैं कि व्यक्ति तो बड़े ही रौबदार दिखलाई देते हैं!

ऐसी विशिष्ट शरीर सम्पदा पुण्य के बिना नहीं मिलती! जितनी भी ऐसी विशेषताएँ है, सब पुण्य की ही करामात समझना चाहिए। शरीर सम्पदा आठ प्रकार की सम्पदाओं में गिनी जाती है।

कहा जा चुका है कि औपपातिकसूत्र में भगवान् महावीर के शरीर का शव्य चित्र अंकित किया गया है। उससे प्रतीत होता है कि उनका शरीर बड़ा ही सुन्दर था। उसमें अद्वितीय तेजस्विता थी। अपने पाण्डित्य के गर्व से छके हुए महापण्डित इन्द्रभूति, भगवान् महावीर स्वामी को वादविवाद में पराजित करने की बुद्धि से जब उनके सामने आए और खड़े हुए तो बातचीत तो पीछे हुई, सर्वप्रथम भगवान के शरीर का अतिशय देखकर ही विस्मित हो गए। गौतम पण्डित सोचने लगे—मैं इन्हें क्या कहकर संबोधित करूँ? मैं इन्हें हरि कहूं, हर कहूं, ब्रह्मा कहूँ या कामदेव या वीतराग अवतार कहूँ? कुछ भी कहूँ. वह उपयुक्त नहीं होगा, क्योंकि ऐसा अनूठा रूप तो किसी का नहीं सुना गया है! यह रूप तो सर्वातिशायी है। इनके तेज की उपमा किसी से भी नहीं दी जा सकती। ऐसी स्थिति में मैं इन्हें क्या कह कर पुकारूँ?

इसी प्रकार इन्द्रभूति, सुधर्मा स्वामी और जम्बूस्वामी आदि महान् महात्माओं की शरीर सम्पदा भी बड़ी उच्च कोटि की थी। उसे देख कर देवता भी विस्मित और प्रसन्न हो जाते थे!

जम्बूस्वामी को केवलज्ञान हो गया, किन्तु वह केवल ज्ञान नज़र नहीं आता। कोई देख कर नहीं कह सकता कि उनकी आत्मा केवलज्ञान से विभूषित है! क्योंकि आत्मा

चर्मचक्षु से दृश्य नहीं है। आत्मा को तो चार ज्ञान के धनी भी नहीं देख सकते; क्योंकि चारों क्षायोपशमिक ज्ञान रूपी पदार्थों को ही प्रत्यक्ष जानते हैं। अरूपी पदार्थों को प्रत्यक्ष रूप से जानने की शक्ति चारों में से किसी भी ज्ञान में नहीं है। यह सामर्थ्य तो सिर्फ केवलज्ञान में ही है।

आप लोग साधुजी के दर्शन करते हैं तो किसके दर्शन करते है? साधु के शरीर का या आत्मा का? आत्मा तो आपको दीखती नहीं, केवल शरीर ही दीखता है। अब आप विचार करें कि साधुता किसमें है? आत्मा में या शरीर में? शरीर तो पुद्गल का पिण्ड है। मनुष्य मात्र का ही नहीं, वरन् कहना चाहिए कि प्रत्येक प्राणी का शरीर एक ही द्रव्य से बना है। सब के शरीर पौद्गलिक हैं, चाहे मनुष्यों और पशुओं के हों, चाहे देवों और नारकियों के। वर्गणाएँ अलग-अलग अवश्य हैं, परन्तु मूल में पुद्गल द्रव्य एक ही है।

हाँ, तो साधुता यदि शरीर में मानी जाय तब तो प्राणी मात्र साधु होने चाहिए। इसके अतिरिक्त साधु के मृतक कलेवर को जलाने में भी वही पाप होना चाहिए जो साधु को जलाने मे होता है। तो स्पष्ट है कि हाड़-मांसमय देह के दर्शन करने से पुण्य नहीं होना चाहिए, आत्मा के दर्शन करने से ही पुण्य होना चाहिए। परन्तु यह संभव कैसे हो? आत्मा तो दीख नहीं सकती!

इस सम्बन्ध में शास्त्र में कहा है कि साधु के हाथ, पैर आदि सभी अङ्गोपाङ्ग साधु हैं; क्योंकि वे साधु की आत्मा से व्याप्त हैं।

आपके सामने यह पाटा है। इसे आपके पैर की ठोकर लग गई और आपने खमाया नहीं तो आप पाप के भागी होंगे, क्योंकि यह साधुजी की नेश्राय में है। इसी प्रकार जो पात्र और जो वस्त्र साधु की नेश्राय में हैं, उनको आपकी ठोकर लग जाय तो आपको पाप लगता है।

इसी प्रकार साधु का शरीर भी साधु की नेश्राय में है। अतएव साधु के शरीर के दर्शन ही साधु के दर्शन कहलाते हैं।

एक बार हम पालनपुर जा रहे थे। एक गाँव में पहुँचे। उस गाँव में मन्दिरमार्गी श्रावकों के घर थे। वे जाति के पोरवाड़ थे। हमने पूछा—यहाँ धोवन-पानी मिलेगा?

एक भाई ने उत्तर दिया—हाँ महाराज!

और फिर उस भाई ने गाँव में जाकर कह दिया–महाराज पधारे हैं, पानी गर्म कर लेना! जब हमने यह सुना तो सोचा–यहाँ निर्दोष पानी मिलना कठिन है! यह सोच कर हम आगे चल दिये और अगले गाँव में निश्चय धोवन-पानी मिला, उसे लेकर अपना काम चलाया।

कुछ और आगे बढ़े तो एक सूखी नदी मिली। उसे पार कर रहे थे तो देखा कि एक श्रीपूज्यजी इक्के में बैठे आ रहे थे। हमें देखते ही उन्होंने तिक्खुत्तो के पाठ से 'मत्थएण वंदामि' किया। मैंने सोचा—यद्यपि यह अपने आपको महाव्रतधारी नहीं कहते; फिर भी एक त्यागी का वेषधारी दूसरे वेषधारी को नमस्कार नहीं करता; किन्तु इन्होंने नमस्कार किया है! मैं जरा सोच-विचार में पड़ गया। जब मैंने उनसे पूछा तो वह कहने लगे—सुनिए महाराज, आप पाँच महाव्रत

पालते हैं, इस कारण मैं आपको वंदन करता हूँ। मेरा वन्दन संयम को है।

कहिए साहब ! उनकी कितनी श्रद्धा थी मुनिराजों के प्रति !

श्री पूज्यजी ने यह भी बतलाया—पूज्य श्रीलालजी म. पधारे थे तो मेरे यहाँ ठहरे थे। मैं कच्चा पानी नहीं पीता हूँ। मेरे पास गर्म पानी है। आपको आवश्यकता हो तो ले लीजिए। हमने पानी ले लिया। उनके गाँव में जाकर ठहरे तो शाम को वे लौटकर आ गए। उनसे बहुत प्रेम बढ़ा ! सोचिए, उन श्री पूज्यजी के हृदय में कितनी नम्रता थी ! वास्तव मे संयम पालने वाले को देवता भी नमस्कार करते है:—

देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो।

जिसका मन निरन्तर धर्म में लीन रहता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

इस प्रकार संयम शरीर के साथ ही है, अतः साधु के शरीर के दर्शन ही साधुपन का दर्शन है।

यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है। संयम से कर्मों की निर्जरा होती है और साधु आयुष्य पूर्ण करके देवलोक में जाते हैं। जैन शास्त्रों का कथन है कि संयम से निर्जरा होती है और पुण्य से देवलोक की प्राप्ति होती है ! यह सत्य है तो साधु देव-लोक में क्यों जाते हैं ? वे संयम का पालन निर्जरा के लिए करते हैं; स्वर्ग के सुख और भोगोपभोग भोगने के लिए नहीं करते। फिर संयम पालने पर उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति कैसे होती

है ? अगर साधु होकर देवलोक में गये और पुण्य के उदय से गए तो साधु अवस्था में पुण्य की क्या करणी की ?

यह भगवतीसूत्र का ज्ञान है। इसे सावधान होकर, उपयोग लगा कर सुनना चाहिए।

जब तक मन, वचन और काय की प्रवृत्ति चालू रहती है, अर्थात् अयोगी अवस्था प्राप्त नहीं होती, तब तक पुण्य-पाप का बंध होता रहता है। मन, वचन, काय की शुभ प्रवृत्ति हो तो पुण्य प्रकृतियों का बंध होता है और अशुभ प्रवृत्ति हो तो पाप प्रकृतियाँ बँधती हैं। और जब तक पुण्य या पाप का बंध है तब तक मोक्ष की प्राप्ति होना असंभव है। संयम पालन करने वाला मुनि जब तक अयोगी अवस्था में नहीं पहुँचा, तब तक उसके योगों का व्यापार चालू रहता है। उस योग-व्यापार से पुण्य का बंध होता है। वही पुण्य साधु को स्वर्ग में ले जाता है। इस प्रकार संयम पालन का फल तो निर्जरा ही है और उसकी प्राप्ति संयमी को होती भी है; किन्तु साथ ही मन वचन काय की शुभ प्रवृत्ति से पुण्य का बंध भी होता है।

श्रीभगवतीसूत्र में गौतम स्वामी ने प्रश्न किया है—भगवन् ! जब जीव दूसरे नवीन गर्भ में जाता है तो शरीरसहित जाता है अथवा शरीररहित जाता है ?

भगवान् ने उत्तर दिया—शरीर पाँच हैं-(१) औदारिक (२) वैक्रियक (३) आहारक (४) तैजस और (५) कार्मण। इनमें से पहले के तीन शरीरों की अपेक्षा शरीर रहित जाता है और अन्तिम दो शरीरों की अपेक्षा शरीर सहित जाता है।

पहले के तीन शरीर एक गति से दूसरी गति में जाते

समय नहीं रहते हैं। अगर औदारिक शरीर को साथ लेकर जीव जाय तो बड़ी गड़बड़ी हो जाय। मान लो कि कोई मनुष्य ७० वर्ष की उम्र भोग कर मरा और अपना शरीर साथ ले गया तो यहाँ मृत कलेवर ही दिखलाई नहीं देना चाहिए! इसके अतिरिक्त ७० वर्ष का शरीर गर्भ में कैसे प्रवेश करेगा? वह तो गर्भ में समा ही नहीं सकेगा! अतएव यही मानना युक्तिसंगत है कि जीव स्थूल शरीर को लेकर साथ नहीं जाता।

प्रश्न हो सकता है कि स्थूल शरीर साथ में नहीं जाता यह बात तो प्रत्यक्ष से तथा युक्ति से सिद्ध होती है; किन्तु सूक्ष्म शरीर के जाने में क्या प्रमाण है? जैसे स्थूल शरीर साथ नहीं जाता उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर भी साथ नहीं जाता ऐसा मान लिया जाय तो क्या हानि है? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए बहुत विस्तार की आवश्यकता है। किन्तु यहाँ सक्षेप में ही समाधान करते हैं।

कहा जा चुका है कि सूक्ष्म शरीर तैजस और कार्मण ही साथ जाते है। तैजस शरीर नवीन गति में जाने वाले जीव को एक प्रकार का वेग देता है, जिससे जीव पुनर्भव में गमन करता है यदि तैजस शरीर न हो तो जीव दूसरी गति में जा ही नहीं सकता। दूसरा कार्मण शरीर कर्म-परमाणुओं का समुदाय रूप है। उसके अभाव में जीव नियत गर्भ में नहीं जा सकता। अमुक गति में, अमुक योनि में, एकेन्द्रिय या द्वीन्द्रिय आदि किसी जाति में, ले जाने वाला शरीर कार्मण शरीर है। उसके अभाव में जीव की निश्चित गति आदि की व्यवस्था नहीं हो सकती। कार्मण शरीर के कारण ही जीव का अगले भव का शरीर बनता है। मतलब यह है कि कार्मण शरीर ही जीव के

आगामी भव की सम्पूर्ण व्यवस्था करता है। उसके अभाव में जीव पुनर्जन्म धारण नहीं कर सकता। अतएव कार्मण शरीर का भी साथ में जाना आवश्यक प्रतीत होता है। अन्यथा मुक्तात्माओं की तरह प्रत्येक जीव अशरीर ही बना रह जायगा।

जीव देवगति में या नरकगति में जाता है तो उसे वैक्रिय शरीर की प्राप्ति होती है। मनुष्य या तिर्यञ्च गति में जाने पर औदारिक शरीर मिलता है।

शुभ नामकर्म का उदय हो तो सुन्दर शरीर की प्राप्ति होती है और अशुभ नामकर्म के उदय से अशुभ शरीर की प्राप्ति होती है। शुभ नाम कर्म पुण्य रूप है। जो जीव पुण्य उपार्जन करके मरते हैं, उन्हें सुन्दर शरीर प्राप्त होता है। पुण्य में कमी रह जाय तो शरीर की सुन्दरता में भी कमी रह जाती है। यहाँ पूरे रुपये खर्च करोगे ता हवेली अच्छी बनेगी और अधूरे खर्च करोगे तो कच्ची ईंटों का मकान बनेगा। इसी प्रकार पुण्य उपार्जन करोगे, अच्छी करनी करोगे तो आगे अच्छा फल मिलेगा।

भाइयो! पुण्य में बड़ा प्रभाव है। पुण्य से सभी प्रकार की इष्ट और अनुकूल सामग्री मिलती है। कहा भी है—

पुण्यमेव भवमर्मदारणं, पुण्यमेव शिवशर्मकारणम्।
पुण्यमेव हि विपत्तिशामनं, पुण्यमेव जगदेकशासनम्॥

अर्थात्—पुण्य ही परम्परा से जन्म-मरण के चक्र से छुड़ाता है, पुण्य ही मोक्ष-सुख का कारण है। पुण्य के उदय

से ही सब विपत्तियाँ शान्त होती है और पुण्य ही इस जगत् पर शासन करने वाला है।

पुण्य के बिना मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, सत्कुल, आर्य-क्षेत्र आदि मोक्ष प्राप्त करने में निमित्त भूत सामग्री नहीं मिलती और इसके बिना मोक्ष नहीं मिलता। अतएव पुण्य को यहाँ भवभजन कहा है और मोक्ष सुख का कारण भी बतलाया है। क्योंकि—

जैनो धर्मः कुले जन्म, शुभ्रा कीर्त्तिः शुभा मतिः।
गुणे रागः श्रियां त्यागः, पूर्वपुण्यैरवाप्यते॥

अर्थात्—वीतराग भगवान् द्वारा प्ररूपित जैनधर्म, सुसंस्कारों से सम्पन्न कुल में जन्म, निर्मल कीर्त्ति शुभ विचार, गुणों के प्रति अनुराग और सम्पत्ति का दान-त्याग यह सब पूर्वोपार्जित पुण्य से ही प्राप्त होता है।

लौकिक और लोकोत्तर सुख कौन नहीं चाहता? जगत् के पंचेन्द्रिय से लेकर एकेन्द्रिय तक के जीव सुख के अभिलाषी हैं। प्रत्येक जीव सुख पाने के लिए प्रयत्नशील दिखाई देता है। यह बात दूसरी है कि किसी प्रयत्न के फलस्वरूप किसी को दुःख प्राप्त होता है, किन्तु दुख पाने के लिए प्रयत्न कोई नहीं करता। सभी जीवों की चेष्टाओं का एक मात्र प्रयोजन सुख का लाभ करना ही है। परन्तु बहुत से जीव, यहाँ तक कि मनुष्य भी अज्ञान के कारण सुख के बदले दुःख प्राप्त कर लेते हैं, क्योंकि उनके कार्य ही दुःख-जनक होते हैं। कुछ मनुष्य जान बूझ कर भी मोह के प्रभाव से ऐसे कार्य कर बैठते हैं कि जिससे उन्हें सुख के बदले दुख प्राप्त होता है। ऐसे जीवों की

चेष्टाएँ देख देखकर ज्ञानीजनों के कोमल और दयामय अन्तःकरण में विचार आता है कि अहा, इन बेचारे अज्ञानी मोही और प्रमादी जीवों की आगे चल कर क्या दशा होगी ? तब वे उन्हें चेतावनी देते हैं—

सुखमास्से सुखं शेषे, भुङ्क्ते पिवसि खेलसि ।
न जाने त्वग्रतः पुण्यैर्विना ते किं भविष्यति ॥

अरे प्रमादी जीव ! तू मौज से उठता-बैठता है, मौज में सोता है, आनन्द से खाता, पीता और सोता है ! तू पुण्योपार्जन करने की तनिक भी परवाह नहीं करता ! पुण्य के बिना आगे तेरी क्या दशा होगी ?

एक धनवान् है। वह अपनी पूर्वसंचित सम्पत्ति का दिल खोलकर उपभोग करता है। खूब खाता-पीता और खिलाता-पिलाता है। नाच गान में पानी की तरह पैसा बहाता है। किन्तु नई आमदनी के विषय में कुछ भी नहीं सोचता और न कोई प्रयत्न करता है। उसकी वह पूंजी कब तक काम आयगी ? अन्त में उसे दुखी होना पड़ेगा अथवा नहीं ? आप ऐसे मनुष्य को क्या कहेंगे ? उसकी लानत मलामत करेंगे या नहीं ? अगर आप उसके हितैषी हैं तो यही सलाह देंगे कि—भाई ! पहले की पूंजी खर्च करने के साथ कुछ नवीन द्रव्य को भी संचय कर; नहीं तो आगे चल कर पश्चात्ताप करना होगा !

यही बात पुण्य के विषय में है। जो लोग पूर्वोपार्जित पुण्य को भोग रहे हैं—मौज मज़ा लूट रहे हैं, मगर नया पुण्य उपार्जन नहीं कर रहे हैं, उनकी भी दुर्दशा अवश्य होगी। ज्ञानी पुरुष ऐसे जीवों को भी उपालम्भ देते हैं और चेतावनी

देते हैं कि आगे की बात सोच। भविष्य का विचार कर। तू इसी जन्म में समाप्त होने वाला नहीं है। तेरी मंजिल इसी जन्म में तय नहीं होगी। आगे जाना है। नया जन्म लेना है। वहाँ पुण्य की पूंजी न होगी तो तुझे संकट उठाना पड़ेगा। बहुत दुःख भोगना होगा। अतएव हे भाई! तू अभी से सावधान हो जा। पहले से ही चेत जा। परलोक का प्रबंध कर ले। कुछ पुण्य उपार्जन कर ले। पुण्योपार्जन करेगा तो आगामी जीवन में तुझे सुख मिलेगा। पुण्य के बिना किसी को कभी सुख-सामग्री नहीं मिली है, न मिल ही सकती है।

पुण्यं हि सर्वसम्पत्ति-वशीकरण कारणम्।

अर्थात्—पुण्य ही समस्त सम्पदाओं को वशीभूत करने का एक मात्र कारण है।

शालिभद्र की कथा आपने सुनी है या नहीं? उनके पूर्व भव की घटना याद है? शालिभद्र पूर्वभव में ग्वालवाल के रूप में थे। माँ और बेटा कच्चे टूटे--फूटे मकान में रहते थे। माँ मिहनत--मज़दूरी करके अपना और अपने बेटे का पेट पालती थी। दिन भर कड़ी मिहनत करने पर उसे रूखे--सूखे भोजन पर गुज़ारा करना पड़ता था। लड़का भटकता फिरता था।

एक त्यौहार आया। पास पड़ौस में सब के घर खीर बनी। लड़के को पता चला तो मचल गया। ज़िद कर बैठा--माँ, मैं भी आज खिर खाऊँगा! माता ने उसे बहुत समझाया, पुचकारा और मनाया। परन्तु वह माना नहीं। अपनी अड़ पर कायम ही रहा। तब माता को अपनी गरीबी कोटे की

तरह चुभने लगी। हृदय की वेदना उमड़ पड़ी। माता और पुत्र--दोनों रोने लगे।

अड़ौस-पड़ौस की औरतों को पता चला। वे उसके पास आईं। रोने का कारण पूछा। क्योंकि किसी दूसरे की तकलीफ पूछना और उसे यथाशक्ति दूर करने का प्रयत्न करना धर्म है। जो मनुष्य होकर दूसरे मनुष्य की तकलीफ को नहीं जानता और उसे दूर करने का विचार नहीं करता, वह मनुष्य ही किस काम का !

कुंभार के घर में पचास गधे बँधे हैं। कुंभार का पेट दुखने लगा। उन पचास गधों में से एक भी गधा कुंभार को सान्त्वना देने के लिए एक भी शब्द नहीं कहता। इसी प्रकार मनुष्य यदि मनुष्य को सान्त्वना और सहायता न दे तो गधे और मनुष्य में क्या अन्तर रहा ?

कुत्ता कुत्ते को देखकर गुर्राता है। मनुष्य यदि मनुष्य को देखकर गुर्राने लगे तो उस मनुष्य में और कुत्ते में क्या विशेषता है ?

तो पड़ौस की स्त्रियाँ आईं और उन्होंने उन गरीब माँ-बेटे के रोने का कारण पूछा। सहानुभूति पाकर मनुष्य का हृदय उमड़ पड़ता है। ग्वालिन को और अधिक रोना आ गया। उसे अपनी जिंदगी के बीते दिन याद आ गये। सुख का वह समय आँखों के आगे नाचने लगा। बहुत समझाने पर ग्वालिन ने कहा-बहिनो ! जब इस लड़के के पिता जीवित थे तो २०० गायें-भैंसें मेरे घर बँधती थीं ! दूध-घी के परनाले बहते थे ! आज

यह दशा है कि छाछ को भी तरसना पड़ता है ! कर्मों की गति बड़ी विचित्र है !

सेठानियों ने, जो उसे सान्त्वना देने आई थीं, पूछा—मगर आज इस प्रकार रोने का कारण क्या है ?

ग्वालिन ने लज्जित स्वर में कहा—आज यह लड़का खीर खाने की जिद कर रहा है। जहाँ रूखा-सूखा खाना भी मयस्सर नहीं है वहाँ खीर का प्रबन्ध कैसे हो ? मैं खीर कहाँ से लाऊँ ? कैसे इसकी इच्छा पूर्त्ति करूँ ? यही सोच कर रोना आ गया।

तब उन उदार हृदय सेठानियों ने कहा—तुम व्यर्थ ही रंज करती हो। खीर बनाना और खिलाना कौन बड़ी बात है। चलो, हम खीर की सामग्री देती हैं। आनन्द से बनाओ, खिलाओ और खाओ।

चार जण्या मिल वस्तु दीनी,
हो गई खीर तैयार ।

चार सेठानियों ने चार चीजें दीं। ग्वालिन आत्मगौरव वाली थी। उसने कहा—इसके बदले में आपका काम कर दूंगी। जब आवश्यकता हो मुझे कह देना।

सेठानियों ने कहा—तुम्हारा बालक हमारा भी बालक है। संकोच मत करो और बदला देने का भी विचार मत करो। बदले में कुछ लेने की इच्छा से हम नहीं दे रही हैं।

कुछ लोग थोड़ा-बहुत देते तो हैं, पर यही भावना रख कर देते हैं कि हमको मिले-आगे कई गुना मिले !

अरे रूखी-सूखी रोटी देते हो तो क्या मँगते बनकर सूखी रोटियाँ और फटे कपड़े लेने की इच्छा करते हो? सच्चा देना तो ममता का त्याग करना है। ममता का त्याग कर दिया तो फिर उसका बदला पाने की कामना क्यों करते हो? अगर कामना करते हो तो तुम्हारा दान अशुद्ध है। वह सच्चा दान नहीं है। देने पर मिलेगा तो अवश्य ही, मगर पाने की कामना करने से उतना नहीं मिलेगा जितना मिलना चाहिए। अतएव विवेकवान् पुरुष ऐसा विचार नहीं करते।

सच्चा समकिती कौन है? जो किसी की तकलीफ मिटाकर बदला नहीं चाहता। अगर आप बदला चाहते जाएँगे और वह मिलता जायगा तो मोक्ष नहीं मिलेगा। गजसुकुमार मुनि की भावना बदला लेने की नहीं हुई तो उन्हें मुक्ति मिल गई। बदला लेने की इच्छा होती तो उन्हें फिर जन्म लेना पड़ता। बदला तो कदाचित् वह ले लेते, परन्तु मोक्ष तो नहीं पा सकते थे! अतएव दान-पुण्य करके फल की कामना न करो।

## जैनधर्म झीणो घणो, सूक्ष्म ज्यां का भेद।

भाइयो! जैन मार्ग बड़ा ही बारीक है और इसी से मोक्ष मिलता है। चित्तौड़ में एक अंग्रेज व्याख्यान सुनने आया करता था। साढ़े तीन महीने तक वह आता रहा। एक दिन कहने लगा—स्वामीजी! आपका मज़हब सच्चा है तो सारी दुनिया इसे क्यों नहीं स्वीकार कर लेती? मैं थोड़ी देर चुप रहा और उसके आगे बोलने की प्रतीक्षा करने लगा कि देखूँ, आगे यह क्या कहता है?

तब उसने कहा—ऐसा मालूम होता है कि आपके मज़-

हब को सब नहीं पकड़ सकते। यदि सच्चा है तो सब को पकड़ना चाहिए; मगर आपके मज़हब की बातें बहुत बारीक और कठिन हैं। इसलिए सब की पकड़ में आ नहीं सकतीं। किन्तु मोक्ष जिसे कहते हैं, वह तो स्वामीजी! आपके मज़हब से ही होगा।

कहिए उस निष्पक्ष अंग्रेज ने कितनी उच्च कोटि की बात कही? वास्तव में मार्ग बहुत झीणा और बारीक है, किंतु उसको पालने वाले समझदार होने चाहिए।

पहले यह धर्म क्षत्रिय राजाओं के हाथ में था वे दूसरे देशों में इसका प्रचार करने का प्रयत्न किया करते थे। अब यह महाजनों-वैश्यों-के हाथ में आ गया है। वैश्य जैसे अपनी पूंजी को तिजोरी में बन्द कर रखना चाहते हैं और रखते हैं, उसी प्रकार धर्म को भी अपने मकान में बन्द रखना चाहते हैं। वे किसी को बतलाना भी नहीं चाहते।

भाइयो! यह वीतराग देव का मार्ग है। वीतराग देव किसी एक वर्ग, वर्ण जाति या गिरोह के नहीं थे। उन्होंने जगत् के समस्त जीवों के कल्याण के लिए धर्म का उपदेश किया है। शास्त्र में कहा है—

सव्व जगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयणमिमं सुकहियं।

अर्थात्-समस्त जगत् के जीवों की रक्षा-दया के लिए वीतराग प्रभु ने उपदेश फर्माया है।

भगवान् तीर्थंकर देव को जगत्गुरु, जगन्नाथ, जगत-पितामह आदि विशेषणों से शास्त्र में विभूषित किया गया

है। अतएव उनका धर्म सब के लिए है। तुम्हें परम्परा से यह धर्म मिला है, यह तुम्हारे महान् पुण्य का फल है। मगर इसे किसी दायरे में कैद करके मत रक्खो। संसार को इसकी आवश्यकता है। उसे बताओ और समझाओ और इसका प्रसार करो। इससे बढ़कर पुण्योपार्जन करने का दूसरा मार्ग नहीं।

उन सेठानियों ने बदला न चाहते हुए ग्वालिन को खीर का सामान दिया। ग्वालिन ने खीर पका ली और एक थाली परोस दी। उसने अपने लड़के से कहा-बेटा, मैं पानी भरने जाती हूँ। खीर ठंडी हो जाय तू खा लेना।

माँ चली गई और बेटा घर रह गया। इसी समय होनहार से एक मासखमण के तपस्वी मुनिराज उसके घर आ पहुँचे। लड़के की तकदीर जाग गई। मुनि क्या आये, साक्षात् मङ्गल आ गया।

थाल भरा जीमन को बैठा,
मुनिवर एक महावीर ॥

लड़का खाने को बैठा ही था कि मुनिवर पर उसकी नज़र पड़ी। नज़र पड़ते ही वह मुनिराज के सामने गया और बोला-'महाराज, कृपा कीजिए, पधारिए।'

भाइयो, कहिए मुनि किस सम्प्रदाय के थे और ग्वाल का बालक किस सम्प्रदाय का रहा होगा? परन्तु उसने ऐसा कोई विचार नहीं किया। अतएव तुम भी आहार देते समय ऐसा न सोचो कि अमुक महाराज को ही दें। यह नीच भावना

मन में कभी न आने देना ! तुम्हें क्या पता है कि किस मुनि में कितनी पात्रता है ?

पूज्य उदयसागरजी महाराज ने एक दृष्टान्त दिया था। किसी राजा के हाथ में एक छाला हो गया। बहुत इलाज़ कराया परन्तु वह ठीक नहीं हुआ। तब एक वैद्य ने कहा–इस छाले पर यदि हंस की चोंच लगे तो अवश्य आराम हो सकता है। इसके लिए समुद्र के किनारे महल बनवाओ और आसपास में मोती, मक्की–जवार विखेर दो तो कभी हस भी मोती चुगने के लोभ से आ जाएगा। राजा ने ऐसा ही किया। नाना प्रकार के पक्षी आने लगे और हंस भी आने लगे। धीरे-धीरे वह राजा के पास भी आने लगे। राजा अपनी हथेली पर छाले के आसपास मोती रख लेता था और हंस मोती चुग जाया करते थे। कई दिन इसी प्रकार बीत गये। अकस्मात् एक दिन छाले को मोती समझ कर हंस ने छाले में चोंच मार दी। राजा का छाला फूट गया और थोड़ी ही समय में मिट गया !

अगर राजा पहले से ही हंस की आशा रखता तो हंस का आना कठिन था। इसी प्रकार दान देते-देते कोई हस भी आ जायगा तो कल्याण हो जायगा और तीर्थंकर गोत्र भी बँध जायगा।

ग्वाल का लड़का मुनिराज के सामने गया। उन्हे वन्दना की और भिक्षा ग्रहण करने के लिए आमंत्रित किया। मुनिराज ने पूछा—वत्स, तुम कौन हो ?

लड़का—मैं गूजर हूँ।

मुनि—कोई उज़र नहीं।

कह कर मुनिराज उसके घर में गये। लड़के ने थाली में परोसी हुई खीर में उंगली से रेखा खींच दी। अर्थात् खीर के दो हिस्से कर दिये। फिर घहराने लगा तो सारी खीर मुनि के पात्र में फिसल गई।

मुनिराज ने कहा—वत्स, अभी तुझे खाना शेष है न ?

लड़का—जी हाँ। किन्तु आप मेरी चिन्ता न करें। खीर खाने की तरकीब मैं जान गया हूं। एक बार फिर ज़िद करूँगा तो फिर बन जायगी। आप कब कब पधारते हैं ?

मुनिराज को क्या पता था कि इस घर में क्या परिस्थिति है ? उन्होंने समझा होगा–गूजर को दुध की कमी नहीं है। ऐसा ही कुछ सोचते हुए और बालक की उदारता का विचार करते हुए मुनिराज पधार गये।

बालक थाली में लगी हुई खीर चाटने लगा। इसी समय माँ आ गई ! उसने कहा—बेटा, और खीर लेगा ? लड़के के हाँ कहने पर उसने बरतन पोंछ-पांछ कर खीर दे दी। किन्तु वह सोचने लगी—मेरा लाल रोज इतना भूखा रह जाता है ! उसे क्या मालूम था कि इसने पहले वाली खीर मुनि को दान कर दी है ! लड़का भी इतना गंभीर था कि उसने अपनी माता से मुनि के आगमन का जिक्र ही नहीं किया। वह खीर देकर लेश मात्र भी पछताया नहीं।

स्मरण रक्खो, दान देकर पछताओगे तो लक्ष्मी मिलने पर भी तुम उसका उपभोग नहीं कर सकोगे। अतएव दान

देकर कदापि पश्चात्ताप नहीं करना चाहिए। जो पश्चात्ताप करते हैं, उन्हें पूरे फल की प्राप्ति नहीं होती। दाता की भावना ऊँची होती है तो ऊँचे फल की प्राप्ति होती है। क्योंकि–

याद्दशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति ताद्दशी।

अर्थात्—जिसकी जैसी भावना होती है, वैसा ही फल मिलता है। दान देकर पश्चात्ताप न करना योग्य है, न अभिमान करना और न ऐहसान समझना ही उचित है। वास्तव में अभिमान या ऐहसान की बात भी क्या है? किसान खेत में बीज बोकर अभिमान क्यों करे? ऐहसान किस पर करे? उसने अपने ही लाभ के लिए बीज बोया है। जो दाना पेट में गया वह उगने वाला नहीं। पर खेत में डाला हुआ एक-एक दाना अनेक दानों को लाता है। गाड़ियाँ भर-भर किसान के घर में आती हैं। ऐसी स्थिति में किसान ऐहसान करे तो किस पर करे?

इसी प्रकार बाप की करणी बाप के साथ और बेटे की करणी बेटे के साथ जाती है। एक के पुण्य-पाप दूसरे के साथ नहीं जाते। कोई दूसरे के पुण्य या पाप का फल नहीं भोग सकता। एक का पुण्य-धर्म दूसरे को मिलता होता तो राजा श्रेणिक की तेरह रानियाँ मोक्ष में गईं और राजा नरक में गये; ऐसा क्यों होता? थोड़ा-थोड़ा पुण्य धर्म लेकर राजा भी नरक से बच जाते। किन्तु ऐसा कदापि नहीं हो सकता। जो जीव जैसा करेगा उसको वैसे ही फल की प्राप्ति होगी।

एक घर में कई महिलाएँ होती हैं। एक साधुजी को दान देती है और दूसरी खड़ी-खड़ी मुँह ताकती रहती हैं। उन्हें

समझना चाहिए कि हाथ न फरसने वाली उस बहराने वाली की मज़दूरिन होगी।

ग्वाले का लड़का दरिद्र था। उसकी कोई कद्र नहीं करता था। किन्तु उसने अपनी उत्कृष्ट भावना के कारण उच्च कोटि का पुण्यबंध कर लिया। पुण्य ने कहा-हम तुम्हें दरिद्र के रूप में नहीं रहने देंगे!

लड़का मर कर राजगृह नगर में गोभद्र सेठ के घर सुभद्रा सेठानी के उदर में जन्मा। गोभद्र सेठ का मकान राज-गृह में अद्वितीय था। उसके मुकाबिले का किसी दूसरे सेठ का मकान नहीं था। मकान के फर्श में हीरे और पन्ने जड़े हुए थे। वैभव का कोई पार नहीं था। असीम सम्पत्ति थी। मुनि को आहारदान देने से गरीब ग्वाले के बालक को यह सब ऐश्वर्य मिला। यह पुण्य का ही प्रताप था।

भाइयो! विना किये कुछ नहीं मिलता है। कुछ करने से ही काम चलेगा। यहाँ करोगे तो वहाँ पाओगे। खाली हाथ जाओगे तो वहाँ भी खाली हाथ रहोगे। सोच देखो, तुम क्या चाहते हो?

कई लोग, जो पुण्य उपार्जन करके नहीं आये हैं, इतने गरीब होते हैं, कि बेचारों के प्राण संकट में पड़े रहते हैं। घर से बाहर निकलते हैं तो लोग गला पकड़ते हैं और रुपया अदा करने को कहते हैं। घर में जाते हैं तो औरत कहती है—मेरा घाघरा फट गया है! ऐसी परिस्थिति में फँस कर वे बहुत दुखी होते हैं। सोचते हैं—कहाँ से रकम लाऊँ? क्या उपाय करूँ?

किं करोमि क्व गच्छामि, कमुपैमि दुरात्मना ।
दुर्भरेणोदरेणाहं, प्राणैरपि विडम्बितः ॥

वह दरिद्र सोचता है—हाय, क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? किसकी शरण लूँ ? कभी न भरने वाले इस दुष्ट पेट ने तो मेरे प्राणों की भी विडम्बना कर रक्खी है !

इस प्रकार दरिद्र पुरुष विषम परिस्थिति में पड़ कर आकुल-व्याकुल हो जाता है। वह यह नहीं सोच पाता कि मेरे इस संकट का कारण क्या है ? इस विषम परिस्थिति के लिए वास्तव में कौन उत्तरदायी है ? मुझे क्यों यह दुख भोगने पड़ रहे हैं ?

अरे भाई, पहले नहीं किया, दान नहीं दिया, दया नहीं की, पुण्य नहीं कमाया, इसी कारण यह दुर्दशा हुई है। पहले का किया यहाँ भोग रहे हो। अब करोगे सो आगे भोगोगे। भूतकाल की बात तो बीत चुकी। वह तुम्हारे वश की नहीं रही। जो तीर छूट गया सो छूट गया। किन्तु जो हाथ में है, उस पर तो विचार करो ! वर्त्तमान को सुधारोगे तो भविष्य सुधर जायगा। यहाँ दान, शील, तप और भावना रूप चतुर्विध धर्म का आचरण करोगे तो इस लोक में भी सुखी बन सकते हो और परलोक में तो निश्चित सुखी बनोगे ही।

देखो, उस लड़के ने खीर का दान दिया तो कितनी ऋद्धि पाई ? कहा जा सकता है कि खीर के दान से ही इतनी विशाल सम्पदा कैसे मिल गई ? खीर दी थी तो खीर मिलनी थी। अप्सराओं जैसी ३२ स्त्रियाँ क्यों मिल गईं ?

भाइयो ! दान तो आप भी देते हैं और हजारों-लाखों का देते हैं; परन्तु खीर के दान के साथ लड़के की जो उत्कृष्ट भावना थी, वह क्या सब की होती है ? वैसी विशुद्धि और उच्च भावना होना ही तो कठिन है। और वास्तव में भावना ही फलदायिनी होती है।

ग्वाल-बालक की भावना अत्यन्त उत्कृष्ट थी, अतएव उसे उत्कृष्ट वैभव की प्राप्ति हुई। गोभद्र सेठ के इस पुण्यशाली पुत्र का नाम शालिभद्र रक्खा गया था। शालिभद्र के घर कितनी अपार ऋद्धि थी, इसका अनुमान करने के लिए एक घटना लीजिए।

एक व्यापारी राजगृह नगर की सम्पन्नता की बात सुनकर सोलह रत्नकंबल लाया। सम्राट् श्रेणिक के पास पहुँचा। परन्तु वह इतने अधिक कीमती थे कि सम्राट् एक भी कंबल न खरीद सके। किन्तु शालिभद्र की माता ने बिना संकोच बीस लाख सोनैया देकर सभी कंबल खरीद लिये। उन कंबलों के दो-दो टुकड़े करके बत्तीसों बहुओं को बाँट दिये गये।

उस घर में यह नियम था कि नित्य नये वस्त्र ही धारण किये जाते थे। जो आज धारण किया वह कल फैंक दिया जाता था। इस नियम के अनुसार बहुओं ने उन अतिशय मूल्यवान् कंबलों को भी फैंक दिया। प्रातःकाल महतरानी आई और वह ३२ टुकड़े उठा ले गई। उनमें से एक टुकड़ा ओढ़ कर वह सम्राट् के यहाँ झाड़ने गई। रानी ने उसे देख कर सोचा-एक कंबल खरीदने के लिए मैंने राजाजी से बहुत आग्रह किया था; परन्तु उन्होंने नहीं खरीदा। अब यह इस महतरानी के पास कहाँ से आ गया ?

पूछने पर महतरानी ने कहा—मेरे पास एक नहीं, बत्तीस टुकड़े हैं ! आज गोभद्र सेठ के मकान पर से उठाकर लाई हूँ ! यह सुन कर रानी के विस्मय की सीमा न रही । वह सोचने लगी—मैं अङ्ग और मगध की सम्राज्ञी हूँ । मैं एक टुकड़े के लिए लालायित हूँ और महतरानी के पास बत्तीस हैं ! और धन्य है वह शालिभद्र जिसके यहाँ सोलह कंबल खरीदे गये और दूसरे दिन फैंक दिये गये !

राजा के कानों तक यह समाचार पहुँचे तो उसे भी विस्मय हुआ । उसने कहा—ऐसे सम्पत्तिशाली और पुण्यात्मा सेठ को बुला कर लाओ । राजा का कामदार बुलाने गया तो माँजी ने कहा—वह ( शालिभद्र ) तो दरवाजे से बाहर नहीं निकलता । सम्राट् का आदेश हो तो मैं आ जाऊँ ।

कामदार ने सम्राट् को यह उत्तर बतलाया तो सम्राट् श्रेणिक को क्रोध नहीं आया; बल्कि एक प्रकार की प्रसन्नता हुई । उन्होंने स्वयं शालिभद्र के घर जाने का निर्णय किया ।

भाइयो ! यह सब पुण्य का ही प्रताप है । शालिभद्र ने पूर्वभव में पुण्य का जो कल्पवृक्ष बोया था, आज वह उसी के मधुर फल चख रहा है । उसकी पत्नियाँ सवा लाख सोनैया के मूल्य के वस्त्र को दूसरे ही दिन उतार कर हटा देती हैं । आज जो आभूषण पहने, कल उन्हें नहीं पहनतीं । एक महीने की तपस्या वाले मुनि को शालिभद्र ने साता पहुंचाई । उत्कृष्ट भावना से शुद्ध दान दिया ! यह सब उसी पुण्य का प्रभाव है !

पुण्य और पाप का फल अवश्यमेव मिलता है । मान

लो किसी लड़के की शादी हो गई और शादी के बाद पता चला कि लड़की काली और कुरूपा है। लड़का उसे नहीं चाहता। फिर भी यह नहीं हो सकता कि वह उसे पुष्कर के मेले में बेच आवे। गाय, भैंस और घोड़ा बदला जा सकता है, किन्तु लुगाई नहीं बदली जा सकती। इसी प्रकार पुण्य-पाप के फल भी नहीं बदले जा सकते।

पुण्य के फल के सम्बन्ध में दामनके का वृत्तान्त सुनाया था वह वृत्तान्त अपूर्ण रह गया है। अतएव आज संक्षेप में उसे पूर्ण करना है।

हाँ, तो दामनका आनन्द में रहने लगा। उसने पढ़ना-लिखना भी सीख लिया और बड़े आदमियों के योग्य सभी शिष्टाचार भी सीख लिया।

उधर सेठजी को घर छोड़े दो महीने हो गए तो उन्होंने घर लौटने का विचार किया। सोचा-अब तक सब बात पुरानी पड़ गई होगी। फिर भी वह शहर में ऐसे अवसर पर आये जब रात हो चुकी थी। रास्ते में लोग मिले तो उन्होंने कहा-कह दो, इक्का खाली है। तब एक ने कहा-सेठ साहब ने बहुत बुरा काम किया !

सेठ सोचने लगा-उस आदमी की मृत्यु को लक्ष्य करके ही यह ऐसा कह रहा है! लोक में कहावत प्रसिद्ध है-चोर की दाढ़ी में तिनका! आखिर मन ही मन शर्माता हुआ सेठ सीधा घर की ओर लपका और अन्दर घुस गया। सेठ का आगमन सुनकर कुछ लोग मिलने के लिए आये, पर उसे किसी से मुलाकात करने की हिम्मत न हुई। उसने कहला दिया-

सेठजी अभी थके हुए हैं। इस समय किसी से नहीं मिलेंगे।

पाप मनुष्य को अपनी ही निगोहों में गिरा देता है! पाप में एक ऐसा विचित्र तीखापन होता है कि वह हृदय को काटता रहता है! पापी की आत्मा सदैव सशंक रहती है।

प्रातःकाल हुआ। सेठ जंगल गया और जब लौटकर आया तो दरवाजे पर तोरण बँधा था। तोरण को देख वह आश्चर्य में पड़ गया कि विवाह हुआ नहीं और तोरण कैसे बँध गया! आखिर उसने अपने लड़के से पूछा--बेटे, अपने दरवाजे पर यह तोरण कैसे लगाया गया है?

लड़के ने कहा—पिताजी, दुकान पर पधारिये तब बतलाऊँगा। सेठ दुकान पर पहुँचा। लड़के ने पत्रों की फाइल निकाल कर वह पत्र सेठ को बतलाया। सेठ ने वह पत्र अपने हाथ में लिया। बार-बार उसे पढ़ा। अपना माथा ठोका! फिर कहा—बेटा, इसमें तो 'विष' लिखा था। विष की जगह 'विषा' किसने लिख दिया!

लड़का—पिताजी, पत्र तो आपके ही हाथ का है। मैं अच्छी तरह आपके अक्षर पहचानता हूँ। आपने पत्र में जो आज्ञा दी थी, वही मैंने किया है। आपके लिखे अनुसार मैंने पत्र लाने वाले के साथ बहिन का विवाह कर दिया है!

सेठ—हाय, क्या उस मँगते के साथ विवाह कर दिया?

इसी समय जामाताजी कुसंबी रंग की पगड़ी डाटे और आभूषण पहने श्वसुर से मुलाकात करने के लिए आ पहुँचे। उसने सेठ को मुजरा किया तो सेठ को ऐसा प्रतीत हुआ मानों

किसी ने माथे में लट्ठ मार दिया हो ! वह क्रोध से पागल हो गया। अपने आपको सँभाल नहीं सका। बोला—अरे सत्यानाशी ! तू ने इस दरिद्री को मेरी कन्या कैसे ब्याह दी ?

लड़का भयभीत हुआ। सोचने लगा—कहीं बहिनोईजी नाराज़ हो गए तो बहिन का जीवन बर्बाद हो जायगा !

और फिर लड़का बहिनोई का हाथ पकड़ कर दूसरे कमरे में ले गया। वहाँ ले जाकर बोला—पिताजी का दिमाग दुरुस्त नहीं है। कभी कभी वह अटसंट बकने लगते हैं। आज इन्हे दौरा हो रहा जान पड़ता है !

उधर सेठ थोड़ी देर बकता रहा। किसी ने उत्तर नहीं दिया तो अन्त में थक कर सोचने लगा—बहुत बुरा हुआ ! किन्तु अब लड़ने से कोई लाभ नहीं है। यह लड़का जमाई बन बैठा, फिर भी मुझे पसंद नहीं है। मेरी बेटी विधवा हो तो भले हो जाय, पर किसी तरह इसका खात्मा कराना ही पड़ेगा। मैं इसे देखना पसद नहीं करूँगा।

आखिर सेठ का यह विचार पक्का हो गया। उसने चार कातिलों को चार सौ रुपया देने का लोभ दिया। कहा—अमुक दिन मैं जिसे देवल में पूजा करने भेजूँ उसे तुम कत्ल कर देना। कातिल बड़े ज़ालिम थे, दोज़ख में जाने वाले थे। उन्होंने उसे कत्ल कर डालना मजूर कर लिया।

भाइयो ! विचार करो कि इस पापी पेट की पूर्त्ति के लिए मनुष्य क्या क्या पापकर्म नहीं करता है !

नियत दिन आया तो सेठ ने जामाता को बुलाकर कहा

हमारे कुल के नियमानुसार आज आपको देवी पूजन करने जाना है। अतएव संध्या के समय अमुक देवल में जाना। यह सुनकर जामाता पूजा का थाल लेकर देवल की ओर रवाना हुआ। सूर्य अस्त हो गया था। जब वह रास्ते में जा रहा था तो सेठ का लड़का मिल गया। वह हवाखोरी के लिए तांगे में बैठ कर गया था और वापिस लौट रहा था। अपने बहिनोई को बाहर जाते देख रुक गया। उसने पूछा—आप इस समय कहाँ जा रहे है?

बहिनोई ने कहा—देवी का पूजन करने।

लड़का—आपको मालुम है—मंदिर कहाँ है?

बहिनोई—हाँ, एक बार गया था। भूल जाऊँगा तो पूछ लूँगा।

लड़का—तो लाइए, थाली मुझे दे दीजिए। मैं अभी पूजन करके लौट आता हूँ। आप इस तांगे में बैठ कर घर चले जाइए।

बहिनोई ने बहुत रोका, पर वह नहीं माना। आखिरकार होनहार टलती नहीं है। कहा है—

यद्भावि न तद्भावि, भावि चेन्न तदन्यथा।

जो होनहार नहीं है, वह कदापि नहीं होगा और यदि होनहार है तो वह मिट नहीं सकता। वह होकर ही रहता है।

सेठ का लड़का पूजन की सामग्री लेकर देवल की ओर गया और जमाई घर आकर अपने कमरे में आराम करने लगा।

भाइयो ! याद रक्खो, कभी किसी का अनिष्ट न करो और न सोचो। दूसरों का अनिष्ट करना अपना ही अनिष्ट करना है। दूसरों का अहित सोचने से उनका अहित हो ही जायगा, यह कौन कह सकता है? परन्तु सोचने वाले का अहित होने में लेश मात्र भी शंका नहीं है। श्रीकृष्ण को मारने के लिए कंस ने कितने प्रयत्न किये ? परन्तु कृष्णजी का बाल भी बांका न हुआ। जिसे मारने का प्रयत्न किया था, उसी के हाथों कंस मारा गया! अतएव कभी किसी का बुरा मत सोचो। किसी के हक़ में बुरा मत करो। तुम्हारा किया तुम्हें ही भोगना पड़ेगा बुरे विचारों का और बुरे कार्यों का फल कभी अच्छा नहीं हो सकता। जिस धन-दौलत के लिए तुम पापमय विचार करते हो, वह आत्मा के साथ नहीं जाएगी। वह पाप ही आत्मा के साथ जायगा और तुम्हें पीड़ा पहुँचाएगा। धन-सम्पत्ति और भोगसामग्री तो चार दिन की चांदनी है। उसके बाद अंधेरी रात होगी !

हाँ, तो सेठ का लड़का देवी के मन्दिर में गया। कातिल वहाँ छिपे थे। ज्यों ही उसने देवी के आगे मस्तक झुकाया, कातिलों ने अपना काम किया। गर्दन पर तलवार का वार किया। सेठ का लड़का तड़प कर ठंडा हो गया। मंदिर रक्त से लथपथ हो गया।

इधर सेठ निश्चिन्त होकर सोचता है-आज मेरे दुश्मन जमाई का अन्त हो जायगा! उसी समय ऊपर से लड़की उतर कर आई तो सेठ मन में कहने लगा-बेटी, थोड़ी देर और मौज कर ले। फिर कोने में बैठेगी। सुहाग के चूड़े फूट जाएँगे और नेत्र रोते-रोते सूज जाएँगे।

थोड़ी ही देर में जामाता भी नीचे आया। उसे देखकर सेठ को ऐसा लगा, मानों बिच्छू ने काट खाया हो! सोचने लगा–अरे यह जिंदा कैसे लौट आया ? हाय, मेरे सब मंसूबे मिट्टी में मिल गये! मगर याद रक्खो, बिल्ली के चाहने से छींका नहीं टूटता! तू किसी को मार डालना चाहता है, परन्तु उसका पुण्य उदय में है तो वह नहीं मरेगा; तेरा चाहना काम नहीं आयगा।

अग्निस्तम्भो जलस्तम्भः, शस्त्रस्तम्भस्तथैव च।
दुष्टानां दमनं चैव, पुण्यकारस्य दर्शनात् ॥

पुण्यशाली पुरुष के दर्शन मात्र से अग्नि की, जल की और शस्त्र की शक्ति कुंठित हो जाती है। पुण्यात्मा को आग नहीं जला सकती। सती सीता और अमरकुमार की कथा को याद करो! अरणक श्रावक को यक्ष नहीं मार सका। सुदर्शन के सामने अर्जुनमाली का शस्त्र बेकार हो गया और शूली सिंहासन बन गई। पुण्यात्मा की शक्ति के सामने दुष्टों की दुष्टता भी बेकार हो जाती है। पुण्य पुरुष समस्त भौतिक शक्तियों को अपने वशीभूत कर लेता है। दामनका इस कथन की सत्यता का साक्षी है।

सेठ चकित भाव से सोचने लगा–हाय, यह तो देवी के मंदिर में से भी जीवित लौट आया!

प्रातःकाल पुजारी देवी के मन्दिर में गया। मंदिर में लाश देख कर वह पुलिस को बुला लाया। पुलिस ने लाश को पहचान लिया कि यह अमुक सेठ का लड़का है।

उधर सेठ ने अपने जामाता से पूछा—क्योंजी, मैंने तुम्हें देवी पूजा के लिए कहा था। तुम गये नहीं ?

दामनके ने कहा—मैं जा रहा था। रास्ते में सालेजी मिल गये। वह जबर्दस्ती मेरे हाथ से थाल लेकर पूजा करने चले गये। मैं रास्ते में से ही वापिस आ गया। फिर न मालूम क्या हुआ !

यह सुनते ही सेठ के पैरों तले की ज़मीन खिसक गई। बेहोश होकर वह धड़ाम से ज़मीन पर गिर पड़ा। उसकी आत्मा घबड़ाने लगी। इसी समय पुलिस ने आकर खबर दी—सेठ, तुम्हारा लड़का नीलाम बोल गया ! यह सुनकर सेठ भी नीलाम बोल गया !

भाइयो ! कोई किसी का बुरा मत चाहो। प्रत्येक प्राणी को अपने अपने पुण्य-पाप के अनुसार फल मिलता है। एक के चाहने से दूसरे का कल्याण-अकल्याण नहीं हो सकता। फिर क्यों किसी का बुरा सोचते हो ? क्यों अपनी आत्मा को पाप की कालिमा से लिप्त करते हो ? दूसरे का अनिष्ट सोचने से तुम्हें क्या मिल जायगा ? तुम्हें तो पाप का ही बंध होगा ! देखो, सेठ ने दामनके के प्राण लेने के लिए अनेक बार प्रयत्न किये। परन्तु पुण्य उसकी सहायता कर रहा था। अतएव सेठ के सभी प्रयत्न बेकार ही साबित नहीं हुए, बल्कि दामनके पक्ष में लाभदायक हुए।

सेठ और उसके लड़के की मृत्यु के पश्चात् दामनका ही सेठ की सम्पत्ति का स्वामी बना।

एक दिन दामनका अपनी पत्नी के पास बैठा था। उसने

अपनी पत्नी से कहा—हमने कमाई करने का कोई उद्योग नहीं किया, फिर भी करोड़ों की सम्पत्ति हाथ लग गई ! कई लोग दिन-रात पसीना बहाते हैं, घोर से घोर परिश्रम करते हैं, फिर भी भर पेट भोजन नहीं पाते ! इसका कारण क्या है ?

पत्नी बोली—नाथ ! इसका प्रधान कारण पुण्य और पाप ही है। आप पहले पुण्य कमा कर आये हैं। उसी का फल भोग रहे हैं ।

दामनक—ठीक कहती हो तुम ! जिस पुण्य के प्रभाव से हमें प्रचुर सम्पत्ति प्राप्त हुई, उसकी आराधना हमें पुनः करना चाहिए। इस संपत्ति से पुण्य का उपार्जन करना चाहिए। इससे आगे भी हम सुखी हो सकेंगे।

इस प्रकार विचार कर पति-पत्नी दान-पुण्य करने लगे। उन्होंने मुक्त हस्त से दान देना आरम्भ किया। कोई भी दीन, दुखी, गरीब उनके द्वार से खाली हाथ नहीं जाता था। दामनक की बहुत-सी शक्ति और समय परोपकार मे ही लगता था।

कुछ ही दिनों में दामनक का यश दूर-दूर तक फैल गया। उसको लोग धन्य-धन्य कहने लगे। राजा ने उसे नगर सेठ की प्रतिष्ठित पदवी से विभूषित किया।

भाइयो ! सारांश यह है कि मानव-भव पुण्य के उदय से प्राप्त होता है। इष्ट और मनोज्ञ सुख-सामग्री भी पुण्य का ही फल है। सुन्दर रूप और शरीर सौन्दर्य भी पुण्य-पादप का ही फल है। प्रकृष्ट पुण्य के प्रभाव से जीवों को सभी प्रकार के सांसारिक सुख मिलते हैं। पुण्य के उदय से ही मोक्ष के सुख

प्राप्त होते है। अतएव आप भी पुण्य का उपार्जन करने में प्रमाद न करो। जिसके पास धन है वह धन का दान करके पुण्योपार्जन कर सकता है। जिसके पास धन नहीं, वह मन से भी पुण्य कमा सकता है। मन में प्रशस्त विचार रखने से, दूसरों का हितचिन्तन करने से, धर्मनिष्ठ पुरुषों की सराहना करने से, गुणगान करने से भी पुण्य का संचय होता है। जिनेन्द्र देव का मार्ग बहुत विशाल है। प्रत्येक प्राणी, चाहे वह किसी भी परिस्थिति में हो, धर्म-पुण्य का उपार्जन कर सकता है। होनी चाहिए सद्बुद्धि! अगर आपकी बुद्धि सन्मार्ग की ओर झुकेगी तो आपका कल्याण होगा। आप इस लोक में भी कीर्त्ति, प्रतिष्ठा और प्रसिद्ध पा सकेंगे और परलोक को भी सुखमय बना सकेंगे। सर्वत्र आनन्द ही आनन्द होगा!

१७-६-४६ }

# क्षीरसमुद्र बनाम लवणसमुद्र

स्तुतिः—

> दृष्ट्वा भवन्तमनिमेषविलोकनीयं,
> नान्यत्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षुः ।
> पीत्वा पयः शशिकर द्युतिदुग्धसिन्धोः,
> क्षारं जलं जलनिधेरसितुं क इच्छेत् ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं कि–हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन् ! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय ? प्रभो ! कहाँ तक आपके गुण गाये जाएँ ?

प्रभो ! आप अनिमेष विलोकनीय हो; अर्थात् आपके मुखारविन्द की ओर एक बार दृष्टि चली जाय तो पलक मारने की भी इच्छा नहीं होती टकटकी लगा कर आपका परम सौम्य मुखमण्डल देखते रहने को ही जी चाहता है। इसके अतिरिक्त

जो एक बार आपके दिव्य दर्शन कर लेता है, उसे फिर अन्यत्र कहीं भी सन्तोष नहीं होता। एक बार आपकी अद्भुत छवि निहार लेने के पश्चात् मनुष्य नेत्रों को दूसरी कोई भी छवि मोहित नहीं कर सकती। आपकी वीतराग छवि में असामान्य आकर्षण है। वह नयन-मार्ग से हृदय में प्रवेश करके हृदय को मुग्ध कर लेती है। फिर तो संसार की मनोज्ञ से मनोज्ञ छवि भी तुच्छ और नीरस प्रतीत होने लगती है। उसमें कुछ भी आकर्षण नहीं रह जाता।

ऐसा होने में कोई आश्चर्य की बात भी नहीं है। श्रेष्ठ वस्तु का सेवन कर लेने के पश्चात् निकृष्ट वस्तु के सेवन की इच्छा किसी को नहीं होती। क्षीरसागर का चन्द्रमा की कान्ति के समान निर्मल और धवल सलिल पान करने के अनन्तर कौन अभागा लवणसमुद्र का खारा पानी पीना चाहेगा? अगर कोई चाहता है तो वह पागलों की श्रेणी में ही गिना जा सकता है। कोई विवेकशील पुरुष तो ऐसा नहीं चाहेगा।

जिन नाभितनय आदिनाथ की महनीय मुख-मुद्रा में ऐसी अद्भुत मोहिनी शक्ति है, जिनकी वीतरागतामयी छवि हठात् हृदय को अपनी ओर खींच लेती है, उनको ही हमारा बार-बार नमस्कार है!

भाइयो! भगवान् ऋषभदेव के गुणों का वर्णन करना अपने लिए संभव नहीं है। विशाल बुद्धि के धनी आचार्य महाराज भी जब उनके गुणों का वर्णन करने में अपने आपको असमर्थ पाते हैं, तो साधारणजन कैसे समर्थ हो सकते हैं? उनके गुण अनन्त हैं, और उनमें से भी प्रत्येक गुण अनन्त-

असीम है। एक-एक गुण की पर्यायें भी अनन्त हैं। ऐसी दशा में जड़ वाणी कैसे उनको प्रकट कर सकती है?

प्रश्न हो सकता है कि भगवान् के जिस शरीर-सौन्दर्य का यहाँ वर्णन किया गया है, उसका कारण क्या है? भगवान् के मुख-मण्डल पर यह अपूर्व आभा कहाँ से आ गई?

इस प्रश्न का उत्तर संक्षेप में यह है कि प्रथम तो भगवान् का औदारिक शरीर ही संसार के सर्वोत्कृष्ट परमाणुओं से बना है। यह बात कल बतलाई गई थी। उन उत्कृष्ट परमाणुओं के कारण भगवान् का मुख अद्भुत आभा से विभूषित होता है। पुद्गलों का परिणमन बड़ा ही विचित्र होता है। आप जो भोजन करते हैं, उसमें एक अंश ऐसा भी होता है जो नेत्रों की ज्योति के रूप में परिणत होता है। पेट में डालने से पहले आप भोजन की परीक्षा करेंगे, भोजन का विश्लेषण करेंगे, उसे पीस-पीस कर देखेंगे तो भी वह ज्योति आपको नहीं मिलेगी। कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होगी। किन्तु पेट में पहुँच कर वही भोजन नेत्र की ज्योति बन जाता है। इसका कारण यह है कि आत्मा की शक्ति भोजन को विविध रूपों में परिणत करती है।

आत्मा की शक्ति की सहायता से रूपान्तरित होने वाले पुद्गल ही शरीर का निर्माण करते हैं। मगर इस संबंध में एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। अन्तःकरण में यदि प्रशस्त विचार हैं, शुभ भावनाएँ लहराती रहती हैं, मृदुता, दया, क्षमा, सरलता आदि सात्विक गुण-सम्पत्ति विद्यमान है, तो पुद्गलों का परिणमन भी प्रशस्त होता है। चेहरे पर

उसी प्रकार का प्रतिबिम्ब अङ्कित हो जाता है। मनोवैज्ञानिक विद्वान् कहते है—

वक्त्रं वक्ति हि मानसम्।

अर्थात्—मनुष्य का चेहरा ही बतला देता है कि उसके मन में क्या है? मनुष्य का मुख उसके अन्तःकरण का प्रतिबिम्ब है। मन में क्रोध की ज्वाला धधक रही होगी तो चेहरे पर भी लालिमा आ जायगी। शोक होगा तो चेहरा भी मन की सहानुभूति में उदास और खिन्न बन जायगा। मन में दया की तरङ्ग उठेगी तो नेत्र सजल हो जाएँगे। इसी प्रकार मन में पाप का निवास होगा तो चेहरे पर भयानकता दिखलाई देगी। पवित्र और उज्ज्वल भाव होगा तो चेहरे पर सौम्यता अंकित हो जायगी। इसी सिद्धान्त के आधार पर भगवान् के परमोत्तम मुख-सौन्दर्य पर विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि भगवान् की अतिशय पावन, करुणापूर्ण, विशुद्ध और कल्याणमयी भावनाएँ भी भगवान् के मुख मण्डल को अतिशय सुन्दर रूप प्रदान करती हैं। उनकी अलौकिक भावनाएँ उनके चेहरे पर अंकित होकर उसे अलौकिक सुन्दर बना देती हैं।

अगर आप चाहते हैं कि आपका मुखमण्डल दर्शनीय बने, सुन्दर हो तो आप अन्तःकरण में पवित्र भावनाएँ उत्पन्न कीजिए। आपकी भावना जितनी उच्चकोटि की होगी, मुखमण्डल का सलोनापन भी उसी उच्च कोटि का होगा।

भगवान् की जन्म-जन्मान्तर की पावन भावनाओं ने उनके मुखमण्डल को ऐसा बना दिया था कि चन्द्रमा भी उसके

सामने फीका दिखाई देता था। फिर उस असाधारण रूप को देखकर कौन दूसरे रूप को पसंद करता ?

भाइयो! भगवान् ऋषभदेव के गुणों का वर्णन नहीं किया जा सकता। जो निष्पक्ष हृदय से भगवान् के सिद्धान्त को समझ लेगा उसे मिथ्या बातें पसंद नहीं आ सकतीं। कई लोग इधर-उधर भटकते हैं, किन्तु जब भगवान् की यथार्थ वाणी समझ लेते हैं तो उनका भटकना बंद हो जाता है। उनका सारा मिथ्यात्व दूर हो जाता है। प्रखर प्रकाश उनके सामने झलकने लगता है। मिथ्यात्व का अन्धकार तभी तक विद्यमान रहता है, जब तक सम्यक्त्व का सूर्य उदित नहीं होता।

यथान्धकारान्धपटावृतो जनो,
विचित्रचित्रं न विलोकितुं क्षमः।
यथोक्ततत्त्वं जिननाथभाषितं,
निसर्गमिथ्यात्वतिरस्कृतस्तथा ॥

स्वभावतः घोर अन्धकार फैला हुआ हो। उसमें भी किसी मनुष्य को काले कपड़े से ढँक दिया जाय। फिर क्या वह जगत् के विविध प्रकार के रंगों को देख सकता है ? नहीं। इसी प्रकार मिथ्यात्व के अंधकार से आवृत जीव जिनेन्द्र देव द्वारा कथित तत्त्व को नहीं समझ सकता। किन्तु जब मिथ्यात्व दूर होता है तो उसी जीव को यथार्थ तत्त्व का भास होने लगता है।

किन्तु एक बार तत्त्व को समझ लेना या सम्यक्त्व को पा लेना ही कठिन है। इसमें अनेक कठिनाइयाँ हैं। प्रथम तो

आत्मा की आन्तरिक तैयारी होनी चाहिए और फिर उपयुक्त गुरु आदि बाह्य निमित्त भी मिलना चाहिए।

जीव जब तक यथार्थ तत्त्व को नहीं समझता तब तक अज्ञानी बना रहता है। और जब तक अज्ञानी बना रहता है तब तक जन्म-मरण का चक्र भी चालू रहता है।

देखो, रुक्मिणी ने जब श्रीकृष्ण का वर्णन सुना तो उसके मन में ऐसी जम गई कि विवाह करूँगी तो कृष्णजी से ही करूँगी। अन्यथा आजीवन कुँवारी ही रह जाऊँगी। श्रीकृष्ण और रुक्मिणी का जिक्र इसलिए सुनाया जा रहा है कि उसमें अनेक उपयोगी शिक्षाएँ भरी हुई हैं। उनकी ओर भी आप ध्यान रक्खेंगे तो आपके जीवन को नया प्रकाश मिलेगा।

बात यों हुई। एक दिन भामा रानी शृंगार सज कर काच में मुँह देख रही थी। सत्यभामा श्रीकृष्ण की पटरानी और कंस की बहिन थी। जब सत्यभामा काच में अपने सौन्दर्य को निरख रही थी, उसी समय नारदजी का आगमन हुआ। उन्होंने किसी के मुँह से सुना था कि भामा का रूप अतुल है। उसका कोई मुकाबिला नहीं हो सकता। नारदजी के मन में आई कि आज भामा को देखें कि वह कैसी रूपवती है?

नारदजी श्रीकृष्ण के समीप आये तो उन्होंने उनका बड़ा आदर किया। यथोचित उच्च आसन पर आसीन किया। कुशल-क्षेम की पृच्छा के पश्चात् कृष्णजी ने आने का प्रयोजन पूछा तो नारदजी ने मन की बात साफ-साफ बतला दी। कृष्णजी ने कहा-आप प्रसन्नता के साथ, निःसंकोच होकर रनवास में पधारिये।

भाइयो ! नारदजी के लिए अन्तःपुर बन्द नहीं था। क्योंकि उनमें एक गुण बड़ा उच्चकोटि का था और वह यह कि वे लंगोटी के बड़े ही सच्चे थे। वे पक्के ब्रह्मचारी थे। कभी स्वप्न में भी उनका शरीर बिगड़ा नहीं। उन्हें कामवासना का स्पर्श भी नहीं हुआ था। वे विकार विजेता थे।

ब्रह्मचर्य का प्रभाव साधारण नहीं है। जो लोग ब्रह्मचर्य की साधना करते हैं, उनका जीवन स्वस्थ और सुखमय होता है। बालकों को बचपन में जो बीमारियाँ होती हैं, उनका कारण यही है कि माता-पिता का ब्रह्मचर्य शुद्ध नहीं होता। अगर माता-पिता ब्रह्मचर्य का ध्यान रक्खें तो बचपन में बालकों को प्रायः दवा की आवश्यकता ही न रहे। उनको भी जल्दी बुढ़ापा न आवे। क्योंकि वीर्य शरीर का राजा है। जिसका राजा ही बिगड़ जाय, उसकी प्रजा कब ठीक रह सकती है ? इसी प्रकार ब्रह्मचर्य के बिगड़ जाने पर शरीर भी बिगड़ जाता है। आज ब्रह्मचर्य की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जाता, इसी कारण नस्ल निर्बल, निस्तेज, रुग्ण और अल्पायुष्क होती है।

नारदऋषि ब्रह्मचारी तो थे ही, बड़े करामाती भी थे। उनकी यह विशेषता अमर-सी हो गई है। या यों कहिए कि अपनी इस विशेषता के कारण नारदजी अमर हो गए हैं। गाँव में कोई करामाती होता है तो उसे भी लोग नारदऋषि कहने लगते है। नारदजी की करामात यह थी कि किसी के घर में प्रेम-प्रीति हो तो वे चुटकियों में लड़ाई करा दें और लड़ाई हो तो प्रेम करा दें ?

हाँ, तो बाबाजी सीधे सत्यभामा के महल में पहुँचे। बतलाया जा चुका है कि उस समय वह काच में अपना मुख देख रही थी। बाबाजी पीछे की ओर से गये थे, अतएव इनका प्रतिबिम्ब भी काच में पड़ा। उस समय नारदजी की चोटी फर्रा रही थी। ललाट पर तिलक लगा हुआ था। हाथ में कमंडल था। मृगछाला पहने हुए थे। काच में अचानक इनका प्रतिबिम्ब देख कर सत्यभामा भयभीत हो गई। वह पहले से नारदजी को जानती नहीं थी।

अकस्मात् सत्यभामा के मुँह से निकल पड़ा–मेरे मुख रूपी चन्द्रमा को ग्रसने के लिए यह राहु कहाँ से आ धमका?

नारदजी ने यह वाक्य सुन लिया। उनकी सारी प्रसन्नता नष्ट हो गई। वह सोचने लगे—यह त्रिखंडीनाथ श्रीकृष्ण की पटरानी है, अतएव घमण्ड में मतवाली हो रही है! आप चन्द्रमा बनती है और मुझे राहु बनाती है! अच्छा, मैं इस चन्द्रमा के पीछे राहु बन कर न लगा तो मेरा नाम नारद नहीं!

वचन वचन का आंतरा,
एक हीरा एक कांकरा।

भाइयो! विचार कर वाणी का प्रयोग करो। यह वाक्य-बाण बड़े तीक्ष्ण होते हैं। सुनने वाले के हृदय में बुरी तरह चुभते हैं। बाण तो क्षणिक दुःख देता है और शूल भी दीर्घकाल तक कष्ट नहीं पहुँचता; किन्तु वचन-बाण हृदय में चुभने के पश्चात् जीवन पर्यन्त सालते ही रहते हैं। उनका निकलना बड़ा मुश्किल होता है। कभी-कभी तो वे जन्म-जमान्तर में भी वैर

की परम्परा को जारी रखते हैं। अतएव कभी हृदय में उत्तेजना उत्पन्न हो जाय और क्रोध आ जाय तो उस समय मौन धारण कर लेना ही उचित है। उसी समय सीमन्धर स्वामी का या अपने गुरुजी का स्मरण करके मौन धारण करने की प्रतिज्ञा ले लो। ऐसा करोगे तो बहुत-से संकटों से बच जाओगे। जब भी कभी बोलना हो तो सोचे-विचारे बिना मत बोलो। पत्थर मत फैंको अपनी जीभ से! जीभ इसीलिए इतनी कोमल है कि उससे कठोर वचन न बोले जाएँ। सत्यभामा के एक ही कठोर वाक्य ने उसके समग्र जीवन को बदल दिया! जीवन भर उसे अपने इस वाक्य का कुफल भोगना पड़ा।

जीभ योग को भी मिट्टी में मिला देती है। क्रोधावेश में योगी कह देता है कि-'जा तेरा सत्यानाश हो जायगा।' तो जिसे कहा है उसका सत्यानाश हो चाहे न हो, यह तो उसके पुण्य-पाप के उदय पर निर्भर है, परन्तु कहने वाले का सत्यानाश तो हो जाता है! इस जीभ की बदौलत भोगों और रोगों की भी प्राप्ति होती है। यह जिह्वा के कारण यश भी फैलता है और जूते भी खाने पड़ते हैं। मधुरभाषी की वाह-वाह होती है और कर्कश-कठोर बोलने वाला बेइज्जत होता है! किसी की जबान चलती है, किसी के जूते चलते हैं। कभी-कभी तो जबान की बदौलत तलवारें भी चलने लगती हैं। द्रौपदी के एक वाक्य-बाण ने दुर्योधन को अपमानित किया और महाभारत युद्ध को जन्म दिया, जिसने भारत को घोर हानि पहुँचाई। अतएव जब कुछ बोलो तो दिल के काँटे पर तोले बिना मत बोलो। बोलोगे तो कदाचित् इतना भयानक परिणाम भुगतना पड़ेगा कि जिंदगी भर पछताओगे।

भामा रानी ने एक ही कटु वाक्य बोला। उससे नारदजी का अपमान हुआ। वे भामा से बिना बोले, उलटे पाँव वापिस लौट गये।

लौट कर श्रीकृष्णजी के पास पहुँचे तो उन्होंने कहा— ऋषिवर, सत्यभामा को देख आये ?

नारदजी ने संक्षेप में ही कहा—हाँ, देख चुका।

तत्पश्चात् वे वहाँ से चल दिये। कैलाश पर्वत पर पहुँच कर नारदजी सोचने लगे—क्या उपाय करना चाहिए कि भामा का मद उतर जाय। विचार करते-करते सोचा कि भामा का अपहरण करके पहाड़ में छोड़ दूं। किन्तु कृष्णजी के हाथ बहुत लम्बे हैं। वे चाहे कहीं से वापिस ला सकते हैं। उसे कलंक लगाया जाय तो अभिमान चूर हो सकता है, परन्तु ऐसा करना उचित नहीं है, क्योंकि भामा रानी सती है। इसके सिवाय अगर वह आग में कूद गई या आग का गोला हाथ में ले लिया तो मैं झूठा साबित हो जाऊँगा। ऐसी स्थिति में क्या उपाय करना चाहिए ?

नारदजी को सूझा-स्त्री को सौत का दुःख बड़ा जबर्दस्त होता है। यदि भामा से भी अधिक रूपवती किसी दूसरी कन्या से कृष्णजी का विवाह करा दूं तो भामा के प्रति कृष्ण का जो प्रेम है, वह घट जायगा। भामा मन ही मन कुढ़ा करेगी। उसका मद गल जायगा। मगर इतनी सुन्दरी लड़की कहाँ मिलेगी ?

अब बाबाजी लड़की खोजने निकले। पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशाओं में घूम आये, पर भामा से अधिक सुन्दरी

कोई लड़की न मिली। उन्होंने तूंबी और झोली पर्वत पर पटकी और सोचने लगे—सारा सौन्दर्य भामा के ही पल्ले पड़ा! किसी दूसरे के लिए बचा ही नहीं। अरे करतार! तूने भी ऐसी भूल कर दी कि समस्त रूप भामा को ही दे दिया!

फिर भी नारदजी निराश नहीं हुए। घूमते-घूमते वे कुन्दनपुर नगर पहुंचे। नगर के बाहर एक पनघट पर ठहरे। एक आसन बिछा कर और हाथ में माला लेकर बैठ गये। आने-जाने वाली पनिहारिनों को देखने लगे। वे यह परीक्षा करना चाहते थे कि यहाँ के पानी में सौन्दर्य है या नहीं? पानी में सौन्दर्य होगा तो कोई सुन्दरी कन्या भी मिल सकती है। जब उन्हें पता चला कि पानी में सौन्दर्य है तो वहाँ से उठ कर सीधे राजा भीष्म के महल में गये। राजा ने उनका सत्कार किया। नारदजी बोले—महाराज! आपके अन्तःपुर में जाने की इच्छा है! राजा ने कहा—अवश्य पधारिये और दर्शन दीजिए।

नारदजी गये तो देखा कि भीष्म की बहिन रुक्मिणी का हाथ पकड़ कर आ रही है। भुआ-भतीजी ने ज्यों ही नारदजी को देखा, तत्काल नमस्कार किया। नारदजी को समझते देर न लगी कि यह कन्या कुंवारी है। उन्होंने रुक्मिणी को आशीर्वाद दिया-तू तीन खंड के नाथ श्रीकृष्णजी की पटरानी होना।

यह आशीर्वाद सुनते ही भुआ ने कहा-बाबा, ऐसा क्या कहते हो! इसकी सगाई तो महाराज शिशुपाल से हो चुकी है।

नारद-बस, वचन निकल गया सो निकल गया! त्रिखंड

के नाथ बड़े ही सुन्दर हैं। सोने और रत्नों के उनके महल हैं। बलभद्र उनके भाई है। यादव परिवार आज समग्र भरत खण्ड में अद्वितीय है। उनका सा पुण्य किसी दूसरे का नहीं है। रुक्मिणी वहाँ शोभा देगी।

नारदजी ने श्रीकृष्ण की जो प्रशंसा की, वह रुक्मिणी के दिल में भी जम गई। उसने निश्चय कर लिया-श्रीकृष्ण के साथ ही विवाह करूँगी; अन्यथा अविवाहिता ही रहूँगी।

भुआ ने रुक्मिणी के मन की बात समझ ली। उसने रुक्मिणी को सान्त्वना देते हुए कहा-बेटी, तू चिन्ता न करना। मैं सब हिसाब जमा दूंगी।

नारदजी विचार करने लगे—रुक्मिणी तो श्रीकृष्ण के प्रति आकर्षित हो गई है, किन्तु श्रीकृष्ण का हृदय भी इसकी ओर आकर्षित होना चाहिए। यह सोचकर नारदजी ने उसका एक कलापूर्ण सुन्दर चित्र बनाया और उसे साथ लेकर श्री कृष्णजी के पास पहुंचे। यथोचित स्वागत सत्कार के पश्चात् दोनों बैठे और इधर-उधर की बातें करने लगे। बातें करते २ नारदजी ने रुक्मिणी का चित्र निकाला और जैसे कोई गोपनीय वस्तु हो, इस ढंग से अन्दर रख लिया। कृष्णजी ने पूछा-बाबा, ऐसी क्या गुप्त वस्तु लाए हो?

कृष्ण के हृदय में तीव्र उत्कंठा जागृत करने के बाद नारदजी ने वह चित्र उन्हें दिखलाया। देखकर कृष्णजी चकित रह गए। पूछने लगे—ऐसी कोई लड़की है भी या केवल कल्पना-चित्र है?

नारद—देखो, मैंने पहले ही कहा था कि तुम इसे मत देखो, नहीं तो झगड़ा खड़ा हो जायगा। यह चित्र कल्पनाचित्र नहीं, कुन्दनपुर के राजा भीष्म की कन्या रुक्मिणी का चित्र है। चित्र में प्रदर्शित सौन्दर्य लड़की के असली सौन्दर्य के सामने कुछ भी नहीं है।

इस प्रकार रुक्मिणी के सौन्दर्य की प्रशंसा सुनकर कृष्णजी का हृदय उसकी ओर आकर्षित हो गया।

श्रीकृष्ण को पक्का करके नारदजी वहाँ से चल पड़े। उन्होंने सोचा—जरा चंदेरी भी चलना चाहिए। वहाँ शिशुपाल विंदोरे खा रहा है। वहाँ का भी मज़ा देखना चाहिए। यह सोच कर वह चंदेरी पहुँचे और राजा शिशुपाल से मिले। शिशुपाल ने बतलाया—महाराज, माघ शुक्ला अष्टमी को मेरा विवाह होने वाला है।

नारदजी अनजान बन गये। उन्होंने पूछा—विवाह किसकी लड़की से और कहाँ पर होगा?

शिशुपाल—कुन्दनपुर के राजा भीष्म की राजकुमारी रूक्मिणी के साथ विवाह होना निश्चित हुआ है।

नारदजी ने मीन, मेष, मकर, कुंभ आदि की गणना करके कहा—अरे, इस लग्न में तो तुम्हारा विवाह होना कठिन जान पड़ता है। किसने यह मुहूर्त्त निर्धारित किया है? देखो न, राहु उलटा पड़ा है और केतु वक्र हो गया है। सारा ढंग ही बिगड़ा हुआ है।

शिशुपाल—ऋषि, आप तो गज़ब करते है। अब मुहूर्त्त

बदलना असंभव है। पर चिन्ता नहीं, हम क्षत्रिय हैं, तलवार की नोंक पर शादी करेंगे !

नारद—सो तो तुम जानो। मैं तो सावधान कर देता हूं कि सिर्फ बराती ही न ले जाना, फौज-पल्टन भी साथ ले जाना। विवाह में विघ्न उपस्थित हुए बिना न रहेगा। फिर तुम्हारी इच्छा।

इसे कहते हैं नारद-लीला ! प्रत्येक गाँव में नारदजी के ऐसे चेले होते हैं जो जाति-बिरादरी में धड़े डलवा कर मज़ा देखते हैं। नारदजी ने भी मज़ा देखने का निश्चय कर लिया।

इतना कह कर बाबाजी तो चल दिये, परन्तु शिशुपाल के दिल में खलबली मच गई। वह सोचने लगा—अब क्या करना चाहिए ? आखिर उसने अपने सब सामन्तों और सरदारों को बुलवाया। उनके सामने सारी बात कह दी। उन्होंने कहा—हम सब आपके साथ हैं। जहाँ आपका पसीना बहेगा वहाँ हम अपना खून बहा देंगे !

शिशुपाल को हिम्मत बँध गई। वह स्वयं शूरवीर था ही, सरदारों ने उसे और निश्चिन्त कर दिया। थोड़ी देर बाद वह अपनी भौजाई के पास पहुंचा। उसे भी नारदजी वाली बात सुनाई। भौजाई ने कहा—मैं ने सुना है कि रूक्मिणी की सगाई श्रीकृष्ण के साथ हुई है। तुम अपनी मॉग लौटा लो। मुझे तो इसी में कल्याण दीखता है।

यह परामर्श सुनकर शिशुपाल उत्तेजित हो उठा। उसने कहा—क्षत्रिय कन्या होकर तुम भी ऐसा कहती हो ? क्षत्रिय भयभीत होकर अपनी माँग नहीं छोड़ सकता। देख लेना

भौजाई, मैं रुक्मिणी को ब्याह कर महलों में न आऊँ तो मेरा नाम शिशुपाल नहीं !

भौजाई ने कहा-जैसी आपकी मर्ज़ी।

इधर रुक्मिणी भुआजी से कहती है-अब तो एक ही रात विवाह को रह गई है। शिशुपाल ने नगर के चारों ओर फौज फैला दी है-घेरा डाल दिया है। किसी को नगर में प्रवेश करने की आज्ञा नहीं है। क्या होगा ?

भुआजी ने एक ऊँट-सवार को रुक्मिणी का पत्र देकर गुप्त रूप से श्रीकृष्णजी के पास भेजा। पत्र आँसू टपकाते हुए लिखा गया था। दूत पत्र लेकर कृष्णजी के पास पहुँचा। कृष्ण और बलदाऊ को एकान्त में ले जाकर पत्र दिया। पत्र में शीघ्र से शीघ्र कुन्दनपुर आने का और अपना उद्धार करने का अनुरोध किया गया था। यह भी लिखा था कि यदि आप समय पर न पधारे तो निश्चय ही मेरे प्राण चले जाएँगे ! रुक्मिणी का यह प्रण है । इस प्रण की तथा प्राणों की रक्षा करना आपके हाथ में है।

कृष्णजी रुक्मिणी को हृदय से चाहते थे; मगर सोचते थे कि कदाचित् हलधर भैया ने इंकार कर दिया तो क्या होगा ? हलधर भी कृष्ण की मनोभावना को समझ गये। उन्होंने इंकार करना योग्य न समझा । एक कन्या की हत्या का पाप अपने सिर लेना उचित नहीं जँचा। फिर भाई की इच्छा का विरोध करने से भी क्या लाभ था ?

आखिर दूत को उत्तर दे दिया गया कि समय पर हम

पहुँच जाएँगे। दूत वापिस लौटा। कृष्ण और बलदाऊ रथ में बैठ कर कुन्दनपुर आ पहुँचे। वे उस समय पहुँचे जब शिशुपाल नगर के बाहर चक्कर लगा रहा था।

रुक्मिणी शिशुपाल को नहीं चाहती, यह बात छिपी न रह सकी। बरात आ चुकी थी। मामला पेचीदा हो गया। माँ ने रुक्मिणी से कहा-बिटिया! उदास क्यों है? देख तो सही कितनी शानदार बरात आई है?

रुक्मिणी बोली-बरात जाय चूल्हे में और सब जाएँ भाड़ में! मुझे त्रिलोकीनाथ के सिवाय किसी अन्य के साथ विवाह-संबंध नहीं जोड़ना है। यह मेरा अटल सकल्प है।

शिशुपाल की ओर से बहुमूल्य सुन्दर आभरण आये। रुक्मिणी ने उन्हें घृणापूर्वक ठुकरा दिये!

रुक्मिणी के भाई को यह सब समाचार विदित हुए। वह आकर समझाने लगा—बहिन, कुलीन कन्या को ऐसा करना शोभा नहीं देता! कुछ भी हो, पिताजी की और मेरी लाज तुम्हारी मुट्ठी में है! विचार कर देखो, अगर शिशुपाल का अपमान हुआ तो कितना अनर्थ होगा!

रुक्मिणी—भाई, एक ओर आपकी प्रतिष्ठा है और दूसरी ओर मेरे प्राण हैं। आप किसकी रक्षा करना चाहते हैं? आपने सगाई करते समय ही मुझ से क्यों नहीं पूछ लिया? मैं अपना हृदय श्रीकृष्ण को सौंप चुकी हूँ। उन्हें अपना देवता बना चुकी हूँ। अब किसी दूसरे को कैसे अंगीकार करूँ? मैं अपने प्राण भले दे दूं, मगर धर्म नहीं दे सकती। प्रतिष्ठा, प्राण आदि सभी चीजें धर्म से नीचे हैं!

भाई को कुछ उत्तर न सूझा। वह गहरी और लम्बी सांस लेकर वहाँ से चल दिया। धीरे-धीरे यह समाचार शिशुपाल के कानों तक पहुंच गया। उसे ज्ञात हुआ कि रुक्मिणी मुझ से विवाह नहीं करना चाहती। तब उसने एक अत्यन्त चतुर दूती को भेजा। उसे समझा दिया—किसी भी उपाय से रुक्मिणी का हृदय मेरी ओर आकर्षित करना। दूती ने कहा–आप चिन्ता न करें। कोई काम नहीं जो मैं न कर सकूँ। कहिए तो आसमान के तारे तोड़ लाऊँ!

दूती रुक्मिणी के पास पहुँची। उत्तम आभूषण और वस्त्र उसके सामने रख कर कहा—राजकुमारीजी, आपका महान् सौभाग्य है कि आपको महाराज शिशुपाल वर के रूप में प्राप्त हुए हैं। किसका भाग्य है जो उन्हे पा सके? प्रबल पुण्य का उदय होने पर ही उन्हें पाया जा सकता है। चंदेरी की महारानी बनोगी तो मौज करोगी। उस काले-कलूटे के यहाँ जाओगी तो कौन पूछेगा? हजारों रानियों की फौज में तुम्हारी क्या गिनती होगी? जिंदगी भर पछताओगी और माथा धुनती रहोगी। जरा विवेक से काम लो। यह प्रश्न सारे जीवन का प्रश्न है। भूल कर बैठोगी तो फिर सुधार न होगा।

रुक्मिणी–दूती, तुझे मेरे सुख की इतनी चिन्ता क्यों है? किसने तुझे सलाह देने को आमंत्रण दिय है? क्यों व्यर्थ भटकती फिरती है? तू जा, अपना काम कर। मुझे अपने भाग्य पर छोड़ दे। जो मेरे भाग्य में होगा, होकर रहेगा।

दूती–देखो राजकुमारी, मुझे साधारण नारी मत समझो। मैं बहुत कुछ कर सकती हूँ। आसमान के तारे तोड़ सकती हूँ

और रेत में नाव चला सकती हूँ। ज्यादा करोगी तो तुम्हें चील बना कर शिशुपाल महीपाल के पास रख दूँगी।

दूती का यह कथन सुनकर रूक्मिणी को क्रोध आ गया। उसने अपनी दासियों की ओर इशारा करके कहा—इस करामातिन को यथायोग्य सत्कार करके बाहर निकाल दो! इसे स्वामिभक्ति का कुछ पुरस्कार तो मिलना ही चाहिए।

रूक्मिणी की दासियों ने दूती को मार-पीट कर भगा दिया। दूती रोती-चिल्लाती शिशुपाल के पास पहुँची। बोली—उसने तो मेरी ही मरम्मत कर दी। उसे विधाता भी आपकी ओर आकर्षित नहीं कर सकता।

देखी आपने रूक्मिणी की निडरता! आज स्त्रियाँ कितनी डरपोक हो गई हैं! कोई कहती हैं—डाकिन लग गई; कोई कहती है चुड़ैल लग गई! कोई-कोई अपनी ही परछाई से डरती हैं! उनमें साहस नहीं है। हिम्मत नहीं है। इसी कारण वे पग-पग पर लांछित और अपमानित हो रही हैं। उन्होंने अपने को अबला मान लिया है। बहिनो, अपने तेज को प्रकट करो। अपनी शक्ति को समझो। जिसने बलवान् और शूरवीर पुरुषों को जन्म दिया है, वे अबला नहीं हो सकतीं। तुम शक्ति का अवतार हो। तुम्हारी आत्मा में अनन्त बल है। कोई डाकिन और चुड़ैल तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सकती। नमस्कार मंत्र पर श्रद्धा रक्खो तो कोई भी संकट तुम्हारे पास नहीं फटक सकता। मूर्खा और फूहड़ स्त्रियों को ही डाकिन लगती है। बुद्धिमती स्त्रियों के सामने ऐसी कल्पना ही नहीं आती।

रुक्मिणी बड़ी बुद्धिमती थी और निडर भी थी। उसने

अपने मन से कृष्णजी का वरण कर लिया था। अतएव समस्त परपुरुष उसके लिए भाई के समान थे। ऐसी स्थिति में वह शिशुपाल की अर्धांगिनी कैसे बन सकती थी? वस्त्रों, आभूषणों एवं वैभव-ऐश्वर्य का प्रलोभन उसे धर्म से च्युत नहीं कर सकता था।

दूती के चले जाने पर रुक्मिणी भुआजी के पास पहुंची। चिन्तित स्वर से उसने कहा-भुआजी, समय सन्निकट आ रहा है। झंझटे बढ़ती जा रही हैं। मैं अपने संकल्प से तिल भर भी डिगने वाली नहीं हूँ। कृष्ण मुरारि की ओर से कोई समाचार नहीं मिल रहे हैं। इधर शिशुपाल छाती पर सवार है।

भुआजी ने कहा-महल की छत पर चढ़ कर देख तो आ। कहीं कुछ पता लग जाय! यों कृष्णजी ने समय पर पहुँच जाने का वायदा किया है, और वह वायदा अवश्य पूरा करेंगे। ऐसे विकट प्रसंग पर वे चूक नहीं सकते। आते ही होंगे या आ गये होंगे।

रुक्मिणी महल के सातवें खण्ड पर चढ़ी। उसने नजर दौड़ाई तो दूर पर गरुड़ की ध्वजा दिखलाई दी। उसके मन की कली-कली खिल गई। भुआ ने कहा-देख, मैंने कहा था न कि मुरारी चूकने वाले नहीं।

रुक्मिणी—मगर नगर के बाहर कैसे जाना होगा?

भुआ—मैं सब व्यवस्था कर दूँगी। सब की आँखों में धूल झोंक कर तुझे तेरे प्रियतम के पास पहुँचा दूँगी।

यह कह कर भुआजी ने एक बड़ा-सा थाल मँगवाया और उसमें पूजन की सामग्री सजाई। राजा भीष्म को कहला भेजा. रुक्मिणी का प्रण है कि शिशुपाल को दी जायगी तो पहले पूजा करेगी।

राजा भीष्म ने पूजा के लिए स्वीकृति दे दी। मन में प्रसन्नता हुई। सोचा--चलो, बिगड़ी बात बन गई। लाज रह गई।

गाजे—बाजे के साथ भुआ--भतीजी पूजन करने के लिए रवाना हुईं। नगर के द्वार बंद थे। भुआजी ने शिशुपाल को संदेश भेजा-रुक्मिणी आपके सुख के लिए पूजा करने जा रही है। द्वार जल्दी खोल दिये जायँ। बिना पूजन किये विवाह होगा तो सदा खटपट होती रहेगी।

शिशुपाल के पास यह समाचार पहुँचा तो बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने जल्दी आदेश देकर द्वार खुलवा दिया। पाँच सौ घुड़सवार रुक्मिणी के साथ भेज दिये।

रुक्मिणी ने उद्यान में प्रवेश किया। तब भुआजी ने कहा-सब लोग उद्यान के द्वार पर ही ठहरें। पूजा करने के लिए अकेली रुक्मिणी ही जायगी। भीड़भाड़ में शोरगुल में पूजा नहीं होती। अंदर कोई न जाय। मैं भी यहीं ठहरूँगी। फिर उसने सवारों से कहा-देखो तुम लोग सावधान रहना। उद्यान के चारों ओर पहरा देते रहना। प्रमाद न करना।

सब उद्यान के बाहर ठहर गये। सवार चारों तरफ पहरा देने लगे। अकेली रुक्मिणी पूजा थाली लेकर उद्यान में प्रविष्ट हुई। भुआजी ने रुक्मिणी को सीख देते हुए कहा-देखना

बेटी, अपनी भक्ति से देवता को प्रसन्न करना और चार चीजें माँगना। वह यह हैं:—

(१) सर्वप्रथम यह वर माँगना कि तेरा सुहाग अचल रहे।

(२) दूसरे, सदैव पति का कृपाभाव बना रहे।

(३) तीसरे सौत न हो।

(४) चौथे पुण्यवान् पुत्र हो।

रुक्मिणी भुआजी को प्रणाम करके चल पड़ी। उसका हृदय इस समय धड़क रहा था। अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प उठते और विलीन होते थे। उसकी आँखें चारों ओर साँवरे की खोज में थी, पर वह दिखाई नहीं दे रहे थे। कृष्ण और बलदेव-दोनों पेड़ों की आड़ में छिपे थे। आखिर रुक्मिणी का धैर्य समाप्त हो गया। उसने पुकार की-हे त्रिखंडीनाथ! मेरे प्राणों की रक्षा करने में विलम्ब मत करो। मुझे अपनी शरण में लो!

अब कृष्ण-बलदाऊ का छिपा रहना योग्य नहीं था। बलदाऊ ने सोचा-मैं बड़ा हूँ। मेरे सामने कदाचित् कृष्ण को संकोच होगा। यह सोच कर वे मंदिर की ओर थोड़ी दूर चले गये। उन्होंने रुक्मिणी की ओर पीठ करली। तब कृष्णजी मधुर मुस्कराहट के साथ रुक्मिणी के सामने पहुँचे। विलम्ब करने का अवसर नहीं था। उन्होंने राजकुमारी का हाथ पकड़ा और रथ में बिठा लिया।

इतने में बलभद्र भी आ गये। वह भी रथ पर आसीन हो गये। रथ रवाना होने की तैयारी में ही था कि नारदऋषि

का शुभागमन हो गया। उन्हें इतने से संतोष नहीं हुआ। वे और अधिक मज़ा देखना चाहते थे। अतएव कृष्णजी से बोले—तीन खंड के नाथ! अगर चुपचाप चले जाओगे तो चोट्टा कहलाओगे। आपको डर भी किसका है? कितनी ही गाडरें क्यों न हों, शेर तो एक ही काफी है। फिर आप तो एक और एक ग्यारह हैं। आप रुक्मिणी हरण की घोषणा कर दीजिए। कह दीजिए-हम रुक्मिणी को ले जाते हैं। जिसे जो करना हो, कर ले। किसी की भुजाओं में बल हो तो सामने आ जाय!

ऋषि सोचने लगे-वासुदेव को तो बींदणी मिल गई, मेरे हाथ क्या आया? मज़ा भी देखने को न मिला!

आखिर कृष्णजी का रथ दरवाजे पर आया। पाँच सौ सैनिक वहाँ मौजूद थे। रथ को देख कर सभी सैनिक थर्रा उठे। मुकाबिला करने की किसी की हिम्मत न हुई।

इधर रथ बाहर निकला, उधर भुआ समझ-बूझ कर चिल्लाई-दौड़ो रे दौड़ो, बाईजी को चोट्टा ले जा रहा है!

श्रीकृष्ण हँस कर बोले—विवाह के प्रसङ्ग पर दी जाने वाली गालियाँ तो अमृत होती हैं!

आखिर कृष्णजी ने अपना शंख फूंक दिया। शिशुपाल और राजकुमार रुक्मी अपनी-अपनी सेनाएँ लेकर आये। कृष्णजी ने अपना रथ दौड़ा दिया। तब रुक्मी चिल्लाया-ओ ग्वालिये! मर्द है तो खड़ा रह।

कृष्ण ने उत्तर दिया-जहाँ युद्ध के अनुकूल भूमि होगी, वहाँ खड़ा रहूँगा। तुम सब चले आओ।

लम्बा-चौड़ा मैदान देख कर कृष्ण ने अपना रथ खड़ा कर दिया। शिशुपाल और रुक्मी की सेनाएँ आ पहुँचीं। रुक्मिणी ने रथ का पर्दा हटा कर देखा तो वह घबरा उठी। सोचने लगी-एक ओर विशाल सेना है और दूसरी ओर दोनों भाई अकेले हैं! भगवान्! क्या होगा?

श्रीकृष्ण रुक्मिणी की चिन्ता को समझ गये। उनके पास हीरा की एक अंगूठी थी। वह इतना मज़बूत था कि एरन पर रख अगर हथौड़ा मारा जाय तो या तो हथौड़े में घुस जाय या एरन में। चूरा उसका नहीं हो सकता था। उस नग को कृष्णजी ने अंगूठे और तर्जिनी उंगली से दबा कर चूर्ण कर दिया और रुक्मिणी के मस्तक पर तिलक लगा दिया। यही नहीं, उन्होंने एक तीर निकाल कर ताड़ के सात वृक्षों को छेद डाला।

रुक्मिणी की आशंका दूर हो गई। उसने श्रीकृष्ण की शक्ति का अनुमान कर लिया। फिर भी उसकी चिन्ता मिटी नहीं-बदल गई! वह सोचने लगी-वासुदेव इतने बलवान् हैं तो कहीं मेरे पिता और भाई को न मार डालें!

स्त्री का हृदय बड़ा विचित्र है! उसमें अपार प्रेम, असीम वात्सल्य और अपरिमित ममता हिलोरें लेती रहती हैं। रुक्मिणी के लिए इधर कुआ उधर खाई की कहावत चरितार्थ होने लगी। उसकी यह चिन्ता जान कर कृष्णजी ने फिर आश्वासन दिया-प्रिये! चिन्ता त्यागो। मैं तुम्हारे पिताजी और भाई के प्राण नहीं लूँगा।

यह आश्वासन सुन कर बलदेवजी सोचने लगे-कृष्ण तो

अभी से इसके वश में हो गया! यह इसके पिता और भाई को नहीं मारेगा तो मैं शिशुपाल को कैसे मरने दूँगा? वह भी तो मेरा भाई है। इस प्रकार कृष्णजी अपने श्वसुर और साले की तथा बलदाऊ शिशुपाल की रक्षा करते हुए लड़ने लगे। घोर संग्राम हुआ, परन्तु पुण्यवान् के सामने कौन टिक सकता है? सिंह के सामने गाडरें क्या कर सकती हैं?

लड़ाई में शिशुपाल का पक्ष परास्त हो गया। शिशुपाल और रुक्मी को मुश्कें बाँध कर रथ में डाल लिया गया। विजयपताका फहराते हुए श्रीकृष्णजी आगे चले।

कुछ दूर चलने पर एक नदी मिली। वहाँ रथ ठहराया गया और रुक्मिणी के अनुरोध करने पर उसके भाई को तथा शिशुपाल को बन्धन मुक्त कर दिया गया।

रुक्मिणी के साथ कृष्णजी आगे बढ़े। गिरनार पर्वत पर पहुँच कर उन्होंने यथाविधि पाणिग्रहण किया और फिर द्वारिका में प्रवेश किया। द्वारिकावासी इस युगल की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे।

नारदजी का फिर पदार्पण हुआ। उन्होंने सत्यभामा के पास जाकर कहा-रानीजी, तुमने मुझे राहु बनाया था तो मैंने तुम्हारे पीछे सचमुच ही राहु लगा दिया है। अब राम-राम जपना।

सत्यभामा को बुरा लगा। लेकिन तत्काल सँभल कर उसने उत्तर दिया-बाबा, इस घर में क्या कमी है? यहाँ तो एक नहीं, अनेक खट सकती हैं। मुझे क्या चिन्ता है?

नारदजी सत्यभामा के उत्तर से सन्तुष्ट हुए। बोले-भामा रानी, सचमुच तुम गुणवती हो।

भाइयो ! इस चरित में अनेक बातें ध्यान देने योग्य हैं। उन पर आप ध्यान देंगे तो आपका हित होगा।

जैसे रुक्मिणी की कृष्ण के प्रति एकनिष्ठा प्रीति थी, उसी प्रकार आपकी जिनेन्द्र भगवान् के प्रति प्रीति हो जाय तो आपका बेड़ा पार हो जाय। रुक्मिणी ने स्पष्ट कह दिया था कि कृष्ण के अतिरिक्त मैं दूसरे को नहीं चाहती। क्या आप भी यह दावा कर सकते हैं कि मैं वीतराग भगवान् के सिवाय और किसी के सामने अपना सिर नहीं झुका सकता ?

इतनी हिम्मत आपमें कहाँ है ? ऐसी दृढ़ता सच्चे सम्यग्दृष्टि में ही होती है। आप तो तुच्छ-सा संकट आते ही न जाने किस-किस देवी और देवता का नाम जपने लगते हैं ! कभी बालाजी के आगे घुटने टेकते हैं तो कभी रामदेवजी की भभूत ललाट पर रगड़ते हैं। कभी भैरोंजी के सामने आत्म-समर्पण करते हैं तो कभी पीर साहब के चरण पकड़ते हैं ! आपकी श्रद्धा मुरादाबादी लोटे के समान है। वह स्थिर नहीं रहती और स्थिर नहीं रहती, इसी कारण आपकी आत्मा निर्बल बनी रहती है।

आपको विचार करना चाहिए कि जब पुण्योदय से आपने देवों के भी देव अरिहंत भगवान् की शरण ग्रहण की है, तो फिर आपको अन्य देवों के आगे गिड़गिड़ाने की क्या आवश्यकता है ? जब आप राजा के पास पहुँच चुके और सीधा उनके साथ सम्पर्क स्थापित कर चुके तो राजा के द्वार-

पाल से आज़ीज़ी क्यों करते हैं? आपकी भावना तो यह होनी चाहिए:—

> यः स्मर्यते सर्वमुनीन्द्रवृन्दैः,
> यः स्तूयते सर्वनरामरेन्द्रैः ।
> यो गीयते वेदपुराणशास्त्रैः,
> स देवदेवो हृदये ममास्तां ॥

अर्थात्—संसार के समस्त मुनिराज जिनका स्मरण करते हैं, समस्त नर, देव और देवेन्द्र जिनकी स्तुति करते हैं, वेदों, पुराणों और शास्त्रों में जिनका गुणगान किया जाता है, वही देवाधिदेव वीतराग भगवान् मेरे हृदय में निवास करें। तथा—

> प्रशमरसनिमग्नं दृष्टियुग्मं प्रसन्नं,
> वदनकमलमङ्कं कामिनीसङ्गशून्यम् ।
> करयुगमपि यत्ते शस्त्रसम्बन्धवन्ध्यं,
> तदसि जगति देवो वीतरागस्त्वमेव ॥

परमात्मा की उपासना करने का एक मात्र ध्येय आत्मशुद्धि है। आत्मा में अनादिकाल से राग द्वेष आदि विकार मौजूद हैं और यही विकार सब सांसारिक दुःखों के मूल कारण हैं। इन्हीं के प्रभाव से आत्मा आधि, व्याधि और उपाधि का पात्र बनता है। जन्म-मरण की वेदनाएँ सहन करता है। अतएव इन विकारों को दूर करना और आत्मा के असली स्वभाविक स्वरूप को प्रकाश में लाना ही आत्मशुद्धि कहलाती है।

आत्मशुद्धि के लिए ही परमात्मा का भजन, स्तवन, चिन्तन, और गुणगान किया जाता है।

अब आप विचार कीजिए कि जब आत्मा को निर्विकार, निष्काम, और निर्दोष बनना है तो निर्विकार परमात्मा की उपासना करनी चाहिए अथवा विकारयुक्त देव की? विकारी देव की उपासना से विकारों का विनाश नहीं हो सकता, विकास भले हो जाय। जो स्वयं नाना प्रकार के विकारों से ग्रस्त है, उसके प्रति आत्मसमर्पण करने से आप निर्विकार किस प्रकार बन सकते हैं? जो स्वयं दीन और दरिद्र है, वह आपको कुबेर कैसे बना देगा? अतएव यह निश्चित है कि आत्मशुद्धि के लिए सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, निर्विकार देव ही उपासना करने के योग्य हैं। इसीलिए हम ऐसे देव को मानते हैं जो समस्त दोषों से मुक्त हो। अभी-अभी जो श्लोक बोला गया है, उसमें सच्चे देव की बाह्य पहचान बतलाई गई है।

जिनके दोनों नेत्र परम प्रशम रस में निमग्न हैं, जिनका मुखकमल प्रसन्न रहता है, जिनकी गोद में किसी कामिनी को स्थान प्राप्त नहीं है और जिनके दोनों हाथों में कोई भी शस्त्र नहीं है ऐसे देव कौन हैं? सारे संसार की खाक छान कर देख लो, एक मात्र वीतराग अर्हन्त प्रभु में ही यह लक्षण आपको मिल सकेंगे। अतएव वीतराग देव ही हमारे उपास्य हैं। वही हमारे आदर्श हैं। उन्हीं के चरण-चिह्नों पर हमें चलना है। उन्हीं की आज्ञा को हमें शिरोधार्य करना है।

इसके विपरीत जो स्त्रियों के सम्पर्क में रहते हैं, स्त्री को अपने आधे अंग में विराजमान करते हैं अथवा अन्य प्रकार से जो स्त्री के वशीभूत हो रहे हैं, ऐसे कामवासना से युक्त देव

हमारे आदर्श नहीं हो सकते । इसके अतिरिक्त जो शस्त्र को साथ लिये फिरते हैं वे अपने शत्रुओं का वध करना चाहते हैं या दूसरों से डरते हैं। ऐसे द्वेषी या डरपोक देव भी उपास्य नहीं है। जिनका मन काबू में नहीं हुआ है, वे मन को संयम में रखने के लिए जपमाला हाथ में रखते हैं। ऐसे असर्वज्ञ और अजितेन्द्रिय देव भी हमारी भक्ति के पात्र नहीं हो सकते। कहा भी है:—

प्रमदा भाषते कामं, द्वेषमायुधसंग्रहः ।
जपमाला ह्यसर्वज्ञं, शौचाभावं कमण्डलुः ॥

अर्थात्—कामिनी का संसर्ग प्रकट करता है कि इनमें कामवासना बनी हुई है। शस्त्रों के धारण करने से पता चलता है कि इनका अन्तःकरण द्वेष से परिपूर्ण है। माला से अनुमान होता है कि इनमें सर्वज्ञता नहीं है। कमण्डलु सूचित करता है कि अभी इनमें शुचिता नहीं आई है।

भाइयो! जिसकी आत्मा में राग, द्वेष, कामुकता, चित की चंचलता और असर्वज्ञता आदि दोष विद्यमान हैं, वह तो संसार के साधारण व्यक्ति के समान ही है। उसकी भक्ति करने से आत्मा की शुद्धि नहीं हो सकती। फिर ऐसे देवों की उपासना से क्या लाभ है? लाभ तो कुछ नहीं, हानि ही है। अतएव आत्म शुद्धि के इच्छुक प्रत्येक मुमुक्षु को समस्त दोषों से अतीत देव की ही आराधना करनी चाहिए। सच्चे देव का स्वरूप यह है:—

निरातङ्को निराकांक्षो निर्विकल्पो निरञ्जनः ।
परमात्माऽक्षयोऽत्ययो, ज्ञेयोऽनन्तगुणोऽव्ययः ॥

अर्थात्—जिसकी आत्मा में किसी प्रकार का आतंक नहीं है, किसी भी प्रकार की कामना नहीं है, किसी प्रकार का विकल्प नहीं है, जो पूर्ण रूप से अठारह दोषों से रहित है, जिन्होंने अक्षय पदवी प्राप्त करली है, जो चर्मचक्षु के गोचर नहीं हैं, अनन्त ज्ञान दर्शन शक्ति आदि गुणों से सम्पन्न हैं और जो परमात्मा बन कर फिर कभी संसार में अवतार न लेने के कारण साधारण आत्मा नहीं बनते, उन्हीं को परमात्मा समझना चाहिए।

भाइयो ! जिसे ऐसे परम पुनीत परमात्मा की शरण मिल जाय, वह दूसरी जगह क्यों भटकेगा ? वह क्षीर सागर के पीयूषोपम सलिल को छोड़कर लवण समुद्र के खारे पानी को क्यों पीना चाहेगा ? अतएव आचार्य महाराज ने ठीक ही कहा है—

> पीत्वा पयः शशिकरद्युतिदुग्धसिन्धोः,
> क्षारं जलं जलनिधेरसितुं क इच्छेत् ?

भाइयो ! इस तथ्य पर विचार करोगे तो आपकी आत्मा में अपूर्व ओज, तेज और वीर्य प्रकट होगा और आनन्द ही आनन्द हो जाएगा।

१५-९-४८ }

## १०

# आत्मा सो परमात्मा

स्तुतिः—

नात्यद्भुतं भुवनभूषण भूतनाथ,
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः ।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा,
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं कि-हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन्! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय? प्रभो! कहाँ तक आपके गुण गाये जाएँ?

हे तीन लोक के तिलक! हे जगत् के नाथ! जो मनुष्य आपके वास्तविक गुणों की स्तुति करते हैं, वे आपके सदृश ही बन जाते हैं। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। भला, ऐसे

स्वामी की सेवा करने से क्या लाभ है जो अपने आश्रित सेवक को अपने ही समान वैभवशाली नहीं बना लेता है ?

भाइयो ! भगवान् ऋषभदेव की इस पद्य में एक बड़ी भारी विशेषता बतलाई गई है। वह विशेषता सिर्फ ऋषभदेव की ही नहीं है, प्रत्येक तीर्थंकर की है। सभी तीर्थङ्करों की आत्मा एक-सी होती है। सब में एक से गुण होते हैं। सभी में सदृशता होती है। अतएव चाहे ऋषभदेवजी की स्तुति की जाय, चाहे शान्तिनाथजी की चाहे पार्श्वनाथ भगवान् की स्तुति की जाय, चाहे महावीर स्वामी की, एक ही बात है। सभी तीर्थङ्कर अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त सुख और अनन्त शक्ति के स्वामी हैं। सभी की आत्मा निर्विकार, निर्दोष, निर्मल, निरंजन और निरामय है। सभी लोक के अग्रभाग पर प्रतिष्ठित हैं और अक्षय स्थिति के स्वामी हैं। सबने अपने सहज शुद्ध स्वरूप को चिदानन्द को प्रकट किया है। सभी ने कृतकृत्यता प्राप्त की है। अतएव सब की विरुदावली समान है। नाम का भेद है और सब की आत्मा भी पृथक्-पृथक् है, फिर भी उनके गुणों में भेद नहीं है, अर्थात् विषमता नहीं है।

असल में देखा जाय तो तीर्थङ्करों की ही नहीं, प्राणी मात्र की आत्मा समान है। नरक की यातनाएँ भुगतने वाला नारक, एक श्वास में अठारह बार जन्म-मरण करने वाला निगोदिया, स्वर्ग का राजा इन्द्र, पृथ्वीकाय आदि के रूप में रहा हुआ स्थावर, पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि अपने मूल रूप में समान है। भिन्न-भिन्न गतियाँ, योनियाँ आदि आत्मा के स्वरूप नहीं हैं। यह सब उपाधियाँ हैं। जब तक यह उपाधियाँ हैं, तब तक जीवों में आपस में भिन्नता की प्रतीति होती

है। उपाधियाँ कर्मजनित हैं। कर्म प्रत्येक जीव के भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। अतः कर्मजन्य उपाधियाँ भी अलग-अलग हो जाती हैं। इसी कारण जीवों में विविधता, विसदृशता एवं विरूपता प्रतीत होती है। कोई त्रस कोई स्थावर है, कोई मनुष्य कोई पशु है, कोई देव कोई नारक है, कोई जलचर है, कोई स्थलचर है, कोई खेचर है। किसी में सिर्फ एक स्पर्शनेन्द्रिय है, किसी के दो इन्द्रियाँ हैं, किसी के तीन, किसी के चार और किसी के पाँच इन्द्रियाँ हैं। किन्तु यह पार्थक्य स्वभाविक नहीं, वैभाविक है, औपाधिक है।

जैसे सभी सूर्य स्वभाव से समान हैं और सभी चन्द्रमाओं में भी कोई अन्तर नहीं है; फिर भी मेघपटल के आड़े आ जाने से उनके प्रकाश आदि में भिन्नता दिखाई देती है, उसी प्रकार सभी आत्माएँ समान होने पर भी कर्मजनित आवरणों के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार की दिखाई देती हैं। जब कर्म अलग हो जाते हैं और किसी भी प्रकार की उपाधियाँ नहीं रह जातीं, बाहर का प्रभाव पूर्ण रूप से हट जाता है, उस समय आत्मा निखर कर अपने शुद्ध स्वरूप में आ जाती है। शुद्ध स्वरूप में आ जाने पर सब आत्माएँ एक समान हैं। उनमें सत्ता की भिन्नता अवश्य रहती है, किन्तु गुणों की विषमता नहीं रहती। जैसे जम्बूद्वीप में दो सूर्य और दो चन्द्रमा हैं। एक का उदय आज होता है तो दूसरे का उदय कल होगा। इस प्रकार एक-एक दिन के अन्तर से उनका उदय-अस्त होने से उनकी सत्ता भिन्न-भिन्न है। फिर भी उनका स्वभाव सरीखा है। जैसा स्वरूप एक सूर्य का है, वैसा ही दूसरे का। जैसा स्वभाव एक चन्द्रमा का है वैसा ही दूसरे चन्द्रमा का। यही बात आत्माओं

के संबंध में भी है। प्रत्येक आत्मा के संबंध में यही कहा जा सकता है—

एकः सदा शाश्वतिको ममात्मा,
विनिर्मलः साधिगमस्वभावः ।
वहिर्भवाः सन्त्यपरे समस्ताः,
न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः ॥

अर्थात्—मेरी आत्मा सब से भिन्न है, सदा काल स्थायी है-अजर अमर अविनाशी है, सब प्रकार के मल से अतीत है, असीम बोधमय है, और कर्मजनित भाव सब बाह्य हैं-परकीय हैं। वे आत्मा के स्वरूप नहीं हो सकते।

जो कुछ भी भिन्नता है, वह कर्मजनित भावों के कारण ही है। जब कर्म ही नहीं रह जाते तो कर्मजनित भाव भी कैसे रह सकते हैं ? उस अवस्था में सभी आत्माएँ एक सी हो जाती हैं। उस निष्कर्म आत्मा के स्वरूप को प्रकट करने के लिए शब्दों में पूरी शक्ति नहीं है। फिर भी इन शब्दों में महात्मा कहते हैं—

परमानन्दसंयुक्तं, निर्विकारं निरामयम् ।
ध्यानहीना न पश्यन्ति, निजदेहे व्यवस्थितम् ॥
अनन्तसुखसम्पन्नं ज्ञानामृतपयोधरम् ।
अनन्तवीर्यसम्पन्नं, दर्शनं परमात्मनः ॥
निर्विकारं निराधारं, सर्वसंगविवर्जितम् ।
परमानन्दसम्पन्नं, शुद्धचैतन्यलक्षणम् ॥

द्रव्यकर्मविनिर्मुक्तं, भावकर्मविवर्जितम् ।
नो कर्मरहितं विद्धि, निश्चयेन चिदात्मकम् ॥
अनन्तब्रह्मणो रूपं, निजदेहं व्यवस्थितम् ।
ज्ञानहीना न पश्यन्ति, जात्यन्धा इव भास्करम् ॥

परमानन्द से सम्पन्न, विकार विवर्जित और निरामय अपनी आत्मा को, अपने ही देह में स्थित होने पर भी ध्यान-हीन जन नहीं देख पाते हैं।

शुद्ध आत्मा अनन्त सुख से सम्पन्न है, ज्ञान रूपी अमृत का भण्डार है और अनन्त शक्ति से युक्त है। यही परमात्मा का स्वरूप है। वह निर्विकार, निराधार, समस्त उपाधियों से रहित, परमानन्दमय और विशुद्ध चैतन्य-स्वरूप है।

हे भव्य ! तू समझ कि तेरी आत्मा ज्ञानावरण पौद्-गलिक द्रव्यकर्मों से भिन्न है, राग-द्वेष आदि भावकर्मों से रहित है, औदारिक आदि शरीर रूप से भी पृथक् है। यह आत्मा का वास्तविक रूप है—शुद्ध स्वरूप को अपने शरीर में स्थित होने पर भी ज्ञानहीन जन नहीं देख पाते हैं। जैसे जन्मान्ध पुरुष प्रकाशमय सूर्य को भी देखने में समर्थ नहीं होता, उसी प्रकार अज्ञानी जीव ज्योतिःस्वरूप आत्मा को भी नहीं देख पाते।

इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि आत्मा के विशुद्ध रूप को देखना संभव नहीं है। परमात्मा का वास्तविक स्वरूप समझने का जो प्रयत्न करते हैं, वे उसको समझ ही नहीं लेते, उपलब्ध भी कर लेते हैं। उस समय उन्हें भास होने लगता है:—

स एव परमं ब्रह्म, स एव जिनपुंगवः ।
स एव परमं तत्त्वं, स एव परमो गुरुः ॥
स एव परमं ज्योति स एव परमं तपः ।
स एव परमं ध्यानं, स एव परमात्मकम् ॥
स एव सर्वकल्याणं, स एव सुखभाजनम् ।
स एव शुद्धचिद्रूपं, स एव परमं शिवम् ॥
स एव ज्ञानरूपो हि, स एवात्मा न चापरः ।
स एव परमं शन्तिः, स एव भवतारकः ॥
स एव परमानन्दः, स एव सुखदायकः ।
स एव घनचैतन्यं, स एव गुणसागरः ॥
परमाह्लादसम्पन्नं, रागद्वेषविवर्जितम् ।
सोऽहं तु देहमध्यस्थो, यो जानाति स पण्डितः ॥

अर्थात्—यह मेरी आत्मा ही परम ब्रह्म है, आत्मा ही जिनवर है, आत्मा ही परम तत्त्व है, आत्मा ही परम गुरु है। आत्मा ही परम ज्योति है, आत्मा ही परम तप है। आत्मा ही परम ध्यान है, आत्मा ही परमात्मा है। आत्मा ही कल्याण रूप है, आत्मा ही सुख का भाजन है। आत्मा ही शुद्ध चिद्-रूप है, आत्मा ही परम शिव है। आत्मा ही ज्ञान है और आत्मा ही के सिवाय और कोई आत्मा नहीं है। आत्मा ही परम शक्ति है, आत्मा ही भव-समुद्र से अपने को तारने वाली है। आत्मा ही परमानन्द है, आत्मा ही सुखदायक है। आत्मा ही चैतन्यपिण्ड है, आत्मा ही गुणों का सागर है।

अनिर्वचनीय आनन्द से सम्पन्न, राग-द्वेष से रहित और देह में स्थिर 'सोऽहं' आत्मा ही है। जो आत्मा को जानता है, वही वास्तव में पण्डित है। वही ज्ञानी, ध्यानी और मुनि है। जिसने आत्मा के स्वरूप को नहीं जाना, उसने कुछ भी नहीं जाना।

जिन महामुनियों ने आत्मतत्त्व की साधना की साधना की है, उन्होंने आत्मा के सहज स्वरूप को उपलब्ध कर लिया है। उन्हीं ने आत्मोपलब्धि की युक्ति बतलाकर हमारा पथ-प्रदर्शन किया है। वे कहते हैं.—

सर्वं निराकृत्य विकल्पजालं,
संसारकान्तारनिपातहेतुम् ।
विविक्तमात्मानमवेक्ष्यमाणो,
निलीयसे त्वं परमात्मतत्त्वम् ॥

हे मुमुक्षु ! यदि तू परमात्मतत्त्व में लीन होना चाहता है तो सब प्रकार के विकल्पों का परित्याग कर दे। आत्मा में उत्पन्न होने वाले विविध विकल्प संसार-परिभ्रमण के कारण हैं। यह महल-मकान मेरे हैं, यह धनसम्पत्ति मेरी है, यह मेरे भाई-बन्धु और कुटुम्बी हैं, यह मेरी पत्नी है, यह मेरा पुत्र है, इस प्रकार के विकल्प आत्मा को चक्कर में डालने वाले हैं। इन पर पदार्थों से आत्मबुद्धि हटा लेना चाहिए। यही नहीं, मैं सधन हूँ, या निर्धन हूँ, मैं सबल हूँ या निर्बल हूँ; मैं राजा हूँ या रंक हूँ, यह सब विकल्प तथा यह मेरा शिष्य है, यह मेरा भक्त है, इत्यादि प्रशस्त समझे जाने वाले विकल्प भी आत्मा को परमात्मतत्त्व में लीन नहीं होने देते। अतएव इन सब प्रकार

की कल्पनाओं से अपने आपको मुक्त निर्विकल्प रूप में अनुभव करने का प्रयत्न करो। अपनी आत्मा को निर्द्वन्द्व, निरालिस समझो। न आत्मा गुरु है, न चेला है, न भक्त है, न भाग्यवान् है, न अभागा है। संसार का कोई भी विकल्प आत्मा को स्पर्श नहीं कर सकता। आत्मा सब शब्दों से परे है। कल्पनाओं से अतीत है। यही आत्मा का शुद्ध स्वरूप है।

भाइयो! आत्मा का जो शुद्ध स्वरूप बतलाया गया है, उसे आप भलीभाँति समझ लोगे तो आपको यह भी पता चल जायगा कि आत्मा और परमात्मा के मूल स्वभाव में कुछ भी अन्तर नहीं है। अर्थात् दोनों मूलतः समान ही हैं। यह परमार्थ श्रीऋषभदेव ने ही प्रकट किया है। भगवान् आदिनाथ ने आत्मा को परमात्मा बनने का पथ प्रदर्शित किया है। जैसे वे स्वयं आत्मा से परमात्मा बने, उसी प्रकार जो उनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलते हैं, वे भी परमात्मा बन जाते हैं।

आचार्य महाराज ने यहाँ बतलाया है कि हे प्रभो! जो सच्चे हृदय से आपकी उपासना करता है, उसे आप ईश्वर का पद दे देते हैं। जैसे आप ईश्वर हैं उसी प्रकार आपके अनुयायी भक्त भी ईश्वर बन जाते हैं। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

कोई बड़े आदमी की सोहबत करे और फिर भी बड़ा आदमी न बने तो समझना चाहिए कि उसने या तो बड़े आदमी की ठीक तरह सोहबत ही नहीं की है, अथवा जिसकी सोहबत की है, वह वास्तव में बड़ा आदमी ही नहीं है। जो लखपति की सोहबत करके भी लखपति नहीं बना, उसके संबंध में यही कहा जा सकता है कि उसका सोहबत करना व्यर्थ हुआ। ऐसो

स्वामी किसी काम का है जो अपने आश्रित जनों को अपना सरीखा न बना ले ? जो स्वामी अपने आश्रित से लाभ उठाता है, किन्तु उसे अपने समान नहीं बनाता, वह स्वामी स्वार्थी है। उससे आश्रित को कोई लाभ नहीं है। बड़े आदमी को चाहिए कि वह अपने अधीनस्थ को अपने समान ही बना दे। ऐसा करने में ही उसका बड़प्पन है। इसी में उसकी प्रतिष्ठा और शोभा है।

भाइयो ! आचार्य महाराज की इस उक्ति में बड़ा व्यापक भाव छिपा हुआ है। इसमें स्वामी और सेवक के बीच किस प्रकार का संबंध होना चाहिए, स्वामी का सेवक के प्रति क्या रुख होना चाहिए, इस बात पर बड़ा सुन्दर प्रकाश पड़ता है।

आज स्वामी और सेवक के संबंध नाजुक स्थिति में पहुँच गये हैं, मालिक और मज़दूरों में व्यापक रूप से तीव्र संघर्ष चल रहा है। जहाँ देखो वहीं झगड़ा है, अशान्ति है, असन्तोष है। इसका मूल कारण यही है कि मालिक अपना ही स्वार्थ देखता है और नौकर अपना ही स्वार्थ देखते हैं। मालिक चाहता है कि मज़दूरों का रक्त शोषण किया जाय। उन्हें भरपेट भोजन मिले, इस बात की उसे चिन्ता नहीं। मज़दूर को बीमारी के समय औषध के लिए भी पैसे न मिले पहनने को पर्याप्त कपड़े न मिलें तो उसकी बला से। उसे मज़दूर की कोई परवाह नहीं है। उसके प्रति कोई सहानुभूति नहीं है।

मालिक को अपने आश्रित मज़दूरों के प्रति लेश मात्र भी सहानुभूति नहीं है। वह तो अपनी ही तिजोरियाँ भरने की चिन्ता में लीन रहता है। उसे अपने विलास और आमोद-

प्रमोद से फुर्सत ही नहीं कि वह मज़दूरों की थोड़ी-बहुत चिन्ता करे।

जब से संसार में यह स्वार्थपरता बढ़ी है, तभी से मालिक और मज़दूर के बीच में चौड़ी खाई पड़ गई है। मज़दूरों ने विवश होकर सर्वत्र अपने संगठन बना लिये हैं। आये दिन हड़तालें होती हैं। झगड़े होते हैं। गोलियाँ चलती हैं। मालिक और मज़दूर के मध्य प्रेम का माधुर्य नहीं रह गया है। अलग-अलग दो वर्ग बन गये हैं और उनमें शत्रुता का भाव दिखाई देता है। दोनों प्रतिस्पर्धी जान पड़ते हैं।

इस परिस्थिति से न तो मालिकों का वर्ग सुखी और संतुष्ट है, न मज़दूरों का वर्ग ही। दोनों में दिनोंदिन असन्तोष बढ़ता जाता है। परिणाम स्वरूप समाज में अशान्ति फैल रही है और देश के उद्योग-धंधों को हानि पहुंच रही है। उत्पादन की राष्ट्र की क्षमता का ह्रास हो रहा है।

इस समस्या पर अगर हम जैन दृष्टिकोण से विचार करते हैं तो हमें बड़े महत्त्वपूर्ण सूत्र मिलते हैं। सब से पहले इसी सूत्र पर ध्यान दीजिए जो अभी भगवान् की स्तुति के के रूप में बोला गया है। आचार्य महाराज ने यहाँ बतलाया है कि सच्चा स्वामी वही है जो अपने आश्रितों को अपने ही समान बना ले। कितना उदार और कितना ऊँचा दृष्टि कोण है! मालिक को चाहिए कि वह मज़दूरों की मिहनत से जो धनोपार्जन करता है, उसमें मजदूरों को भी साझीदार बनाए। जैसे आप सुख में रहना चाहता है, उसी प्रकार कमा कर देने वाले श्रमिकों को भी सुख में रहने योग्य बनावे। वह स्वामी आदर्श नहीं कहला सकता तो स्वयं खा-खा कर

अपना पेट फुलाता जाता है और मज़दूरों को भूखा मारता है। अगर आचार्य द्वारा प्रदर्शित आदर्श का अनुसरण किया जाय तो देश को महान् लाभ हो सकता है। श्रमिकों पर करुणा भाव रखने का परिणाम यह होगा कि स्वामी और सेवक के बीच स्नेह की सुधा बहने लगेगी और दोनों वर्ग एक दूसरे के सहायक बन जाएँगे। इससे दोनों को ही लाभ होगा।

जैनधर्म ने अहिंसाव्रत के पाँच अतिचारों में 'अतिभारारोपण' को भी एक अतिचार गिना है। इसका तात्पर्य यह है कि किसी पर उसकी सामर्थ्य से अधिक बोझ न लादा जाय। किसी पशु पर अधिक बोझ लादना, तांगे में अधिक सवारियाँ बिठला लेना, बैलगाड़ी में इतना बोझ भर लेना कि उसे बैलों को खींचने में कष्ट हो या गधे आदि पर उसकी शक्ति से अधिक बोझ लाद देना एक प्रकार की हिंसा है। इससे अहिंसा व्रत दूषित होता है। परन्तु इस अतिचार का संबंध सिर्फ पशुओं के साथ ही नहीं, मनुष्य से उसके सामर्थ्य से अधिक काम लेना भी अतिभारारोपण है और यह भी हिंसा के अन्तर्गत है। श्रावक का कर्त्तव्य है कि वह अगर स्वामी है-तो अपने आश्रित जनों से उनकी शक्ति से अधिक काम न लें।

इस सिद्धान्त का भी आज यथावत् पालन नहीं होता है। इसी कारण राज्य की ओर से तरह-तरह के नियम बनाये गये हैं और बनाये जा रहे हैं। मज़दूरों के कार्य-काल को निश्चित कर देना, तांगों वगैरह में सवारियों की संख्या निश्चित कर देना आदि कानून इसी प्रयोजन से बने हैं। अगर धर्मशास्त्र के आदेश पर लोग चलते और स्वेच्छा से अतिभारारोपण का त्याग कर देते तो क्यों सरकार को यह कानून बनाने पड़ते?

मगर स्वार्थी लोग धर्मशास्त्र की आज्ञा को ठुकराते हैं और जब सरकार वही नियम बना देती है तो झक मार कर उसे मानते हैं।

स्वामीवर्ग धर्मशास्त्र की आज्ञा पर चल कर श्रमिकों के कार्य का समय निश्चित कर देते तो वह करुणा की, अहिंसा की प्रेरणा समझी जाती। इससे स्वामी और सेवक के बीच बड़ी सहानुभूति फैलती और स्नेह की वृद्धि होती। सरकारी कानून से बाध्य होकर करना तो वही पड़ता है, मगर वह स्नेह की मधुरता चली जाती है। यही नहीं, इससे दोनों वर्गों में कटुकता की वृद्धि ही होती है।

इस विषय में जैनधर्म का पथप्रदर्शन एकदम स्पष्ट है और बड़ा ही हितकर तथा स्पृहणीय है।

जैनकथासाहित्य में जगह-जगह जो वर्णन आते हैं, उनमें कई बातें बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। उनसे हजारों वर्ष पहले की समाजव्यवस्था पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। यहाँ उन सबके उल्लेख के लिए न तो अवकाश है और न प्रकरण ही। यहाँ तो हम सिर्फ स्वामी-सेवक के संबंधों पर ही विचार करना चाहते हैं।

हाँ, तो जैनशास्त्रों में जहाँ कहीं स्वामी अपने सेवक से बातचीत करता है, वहाँ उसे 'देवाणुप्पिया अर्थात् हे देवों के प्यारे' कहकर संबोधित करता है। यही नहीं, सेवक भी अपने स्वामी को यही 'देवाणुप्पिया' कहता है। इस प्रकार के संबोधन आप एक नहीं, अनेक स्थानों पर, लगभग सभी जगह पाएँगे।

भारतीय समाज को जैनसाहित्य की यह एक बड़ी ही सुन्दर देन है। इससे पता चलता है कि जैनदृष्टि के अनुसार स्वामी और सेवक के बीच कितना स्नेहपूर्ण और सद्भावमय संबंध होता है।

यह तो दिग्दर्शन मात्र कराया गया है। इस प्रकार की अनेक बातें कही जाती हैं, जिनसे स्वामी-सेवक के संबंधों पर बड़ा सुन्दर प्रकाश पड़ता है।

आधुनिक संघर्ष के युग में जैन साहित्य का यह मार्ग-दर्शन अतीव उपयोगी है। इससे समाज में फैली हुई संघर्ष की आग शान्त हो सकती है और एक ऐसे नूतन समाज की सृष्टि हो सकती है जिसमें किसी प्रकार के वर्गगत स्वार्थों को स्थान न हो; बल्कि सर्वोदय की भावना ही मुख्य रूप से काम करती हो। सर्वोदय के समर्थक चाहें तो जैनसाहित्य से बहुत कुछ लाभ उठा सकते हैं। जैनसाहित्य के मर्मज्ञ विद्वानों का भी कर्त्तव्य है कि वे जैनधर्म के सर्वोपयोगी तत्त्वों को नूतन व्याख्या शैली के साथ सर्वसाधारण के समक्ष उपस्थित करें।

आज की प्रार्थना में बतलाया गया है कि ऐसे परमात्मा को याद करने से क्या फायदा है जो अपने उपासक को गुलाम ही बनाये रक्खे। ऐसा सेठ किस काम का जो अपने नौकर को सदा ही मँगता ही बनाये रक्खे?

हम विक्रम संवत् ७२ की साल में पालनपुर गये थे। वहाँ चौमासा किया तो वहाँ का नवाब भी व्याख्यान सुनने आता था। उसके यहाँ कई आदमी काम करते थे। वे बहुत-सा पैसा खा गए। तब शाहजादा बोला-यह साला बीस लाख खा गया

और वह साला तीस लाख खा गया। कम्बख्त कहीं के लूट-लूट कर खा गए! इस पर नवाब ने कहा-सुनो बेटा! मेरे बाप के समय में १०-१५ लखपति बने थे तो क्या मैं ऐसा कम्बख्त हूँ कि १०-५ भी लखपति न बनें! क्या मैं ऐसा पापी हूँ?

ऐसी होनी चाहिए बड़े आदमियों की दृष्टि! मगर आज तो यह है कि कोई अच्छा खाना-पीता हो तो उसे देख कर लोग जलते हैं क्यों भाई, जलते क्यों हो? वह क्या तुम्हारे बाप का खाता है?

किसी गरीब के लड़के की सगाई हो जाय तो कई लोग जलते हैं कि हमारी राय नहीं ली! अरे मँगते! तेरी राय नहीं ली तो तेरा क्या बिगड़ गया? तुझे किसी की भलाई देखकर जलन क्यों होती है? तुझसे बन सके तो दूसरों की भलाई कर। कम से कम बुराई तो मत कर।

हम तो उन्हीं को बार-बार नमस्कार करते हैं जो आत्मा को परमात्मा के पद पर प्रतिष्ठित कर देते हैं। हम उन्हीं का स्मरण करते हैं, उन्हीं का गुणगान करते हैं और उन्हीं का ध्यान करते हैं। उन्हीं की आज्ञा पर पर हमने घर-बार छोड़ा है, धन-दौलत छोड़ी है। उन्हीं के हुक्म से सिर मुंडाया है और पैदल घूमते फिरते हैं। तुम हम संतों के दर्शन को आते हो तो चूरमा-बाटी उड़ाते हो और संत जाटों के घर की रूखी-सूखी, रोटियाँ खाकर निर्वाह करते हैं। दूसरे मत में होते तो तुम माल उड़ाते और हम भी खाते। मगर हमें तो स्वेच्छा से कष्ट उठाना मंजूर है। किसी को दिखाने के लिए नहीं, अपनी आत्मा के कल्याण के लिए हम कष्ट भोगते हैं। प्रभु का आदेश पालने के लिए और उनके समान बनने के लिए हमने संकट

सहना स्वीकार किया है। भगवान् ऋषभदेव ने स्वयं अनेक कष्ट सहे थे। हमें तो उन्हीं के मार्ग पर चलना है।

भाइयो! स्मरण रक्खो कि बड़े भाग्योदय से मानव-जीवन मिला है। ठाणांगसूत्र के तीसरे ठाणे में बतलाया है कि देवता भी मनुष्यजन्म, आर्यक्षेत्र और उत्तम कुल पाने की इच्छा करते हैं। जिस की देवता इच्छा करते हैं, वही तुम्हें प्राप्त है। अब तुम क्या देखते हो? क्यों मोह में पड़े हो? क्यों प्रमाद के वशीभूत हो रहे हो? प्रभु के मार्ग को समझो और पुरुषार्थ प्रकट करके उस पर चलने का प्रयत्न करो। तुम्हारी आत्मा में परमात्मा बनने की योग्यता मौजूद है। उसे प्रकाश में लाओ।

हम आपको आपके कल्याण की बात कहते हैं। किन्तु जो पुण्यवान् जीव होगा उसी को कल्याण की बात पसंद आएगी। भाग्यहीन को भली बात अच्छी नहीं लगती। भाग्यवान् जीव गर्भ में आता है तभी माता की इच्छा से पता चल जाता है।

पुण्यवान् गर्भ में आवे, माता ने लड्डू जलेबी भावे।

पुण्यशाली जीव गर्भ में आता है तब माता को तीन माह के बाद अच्छे-अच्छे भोजन की लड्डू-जलेबी आदि खाने की तथा उत्तम-उत्तम श्रृंगार करने का इच्छा होती है। साधु-सतियों का व्याख्यान सुनने की, दान देने की और सबसे प्रेम बढ़ाने की इच्छा होती है। और जब पुण्यहीन गर्भ में आता है, तब क्या इच्छा होती है?

पापी जीव गर्भ में आता है तो माता की इच्छा राख, लेवड़ा और कोयला खाने की होती है। साधु-सतियों की निंदा

करने और हर एक से लड़ने की इच्छा होती है। लड़ने को कोई नहीं मिलता तो कुत्ते को ही गालियाँ देती है। इसमें एकान्ततः माता का ही दोष नहीं होता, गर्भ में आये पापी जीव का भी दोष होता है। पापी जीव को तो पाप ही पसंद आता है।

भगवतीसूत्र में उदायी राजा का वर्णन आया है। उस समय भगवान् महावीर स्वामी विचर रहे थे। राजा उदायी के मन में विचार आया कि भगवान् यहाँ पधार जावें तो मैं राज्य के भार का परित्याग करके दीक्षा ले लूँ और तप करके आत्मकल्याण करूँ। भगवान् तो केवलज्ञानी थे। घट-घट की जानते थे। उन्होंने राजा की भावना को जान लिया और वीत-भय नगर पट्टन की ओर विहार किया। ग्रामानुग्राम विचरते हुए वहाँ पधारे और नगर से बाहर एक उद्यान में ठहर गये।

भगवान् के पदार्पण का संवाद पाकर राजा उदायी अत्यन्त प्रसन्न हुआ। अपने परिवार के साथ और लवाजमे के साथ भगवान् का दर्शन करने और उनकी देशना सुनने के लिए रवाना हुआ।

कहो भाइयो! तुम व्याख्यान सुनने आये तो क्या पत्नी को भी कहा? तुम्हारा कर्त्तव्य है कि जब तुम धर्मोपदेश सुनने आओ तो अपने अड़ौस-पड़ौस वालों को भी प्रेरणा करो। रास्ते में जो मिल जाय, उसे भी कहो। कोई आएगा, और कोई नहीं आएगा। कोई भी न आए तो भी कोई बात नहीं। तुम्हें तो लाभ ही होगा। तुम्हारी दलाली का फल तुम्हें मिल ही जाएगा।

धर्म की दलाली करना भी बड़ी बात है। रुपयों-पैसों की दलाली करते हो तो थोड़ी धर्म की भी दलाली किया करो। इसमें तुम्हारी हानि ही क्या है? लेकिन धर्म के प्रति प्रीति होनी चाहिए। देखो, प्रदेशी राजा को धर्ममार्ग में प्रवृत्त करने के लिए चित्त प्रधान ने कितना श्रम किया? वह कितनी प्रार्थना करके केशी श्रमण को ले गया और कैसी युक्ति के साथ राजा को मुनि के पास ले गया!

हाँ, तो उदायी राजा अपने परिवार के साथ महाप्रभु के दर्शन करने गया। उसने मुँह पर पल्ला लगा कर भगवान् को वन्दना की और श्रद्धा-भक्ति से परिपूर्ण होकर सामने बैठ गया। उस समय राजा ने अपने जीवन को कृतार्थ समझा। प्रभु के दर्शन हो जाना, साक्षात् तीर्थंकर देव के सन्मुख उपस्थित होने का महापुण्यलाभ होना असीम पुण्य का फल है। राजा अपने नेत्रों को सफल समझने लगा। उसने सोचा-आज प्रभु की वीतराग मुखमुद्रा का अवलोकन करने से मेरा नेत्र पाना सार्थक हो गया। मेरा मनुष्यभव पुण्यमय बन गया! जन्म-जन्म के प्रकृष्ट पुण्य उदय में आये तब प्रभु के दर्शन का यह महान् अवसर हाथ आया है।

भगवान् ने अपने मुख रूपी सुधाकर से उपदेश-की वर्षा की। कहा-हे भव्य जीवो! तुमने मनुष्य भव पाया है तो सब से पहले यही सोचो कि इसकी सार्थकता किसमें है? क्या करने से यह जीवन सफल हो सकता है? गर्भ में आये, माता को पीड़ा पहुंचाई, जन्म लेकर बड़े हुए, भोगोपभोगों में लीन रह कर यौवन व्यतीत कर दिया, बुढ़ापे में नाना प्रकार के रोगों से घिर कर कष्ट पाते रहे और अन्त में शरीर त्याग कर फिर

चल दिये। यह इस उत्तम जीवन की सार्थकता नहीं है। ऊँचे-ऊँचे महल बँधवाये, लाखों-करोड़ों की सम्पदा जुटाई, भोगों की प्रचुर सामग्री इकट्ठी की। इसमे भी जीवन की सफलता नहीं है; क्योंकि यह सब वैभव यहीं का यहीं रह जायगा। साथ में कुछ भी नहीं जाने वाला है। हाँ, इसका संचय करने के लिए जो पाप करोगे, वह पाप अवश्य साथ में जाएगा और जन्म-जन्मान्तर में वह आत्मा को पीड़ित करता रहेगा। यह तो उलटी बात हुई। मनुष्यभव जैसा उत्तम भव पाकर पापों का विनाश करना चाहिए, उसके बदले उलटा पापों का भार बढ़ाओगे!

भव्य जीवो! यह तो सभी प्रत्यक्ष देखते हैं कि आत्मा अकेला ही आता और अकेला ही जाता है। आज तक न कोई परिवार को साथ लेकर आया है, न साथ लेकर गया है।

जन्मे जितने जीव हैं, जग में करो विचार।
लाये कितने साथ में, पहले का परिवार ?॥
राज-पाट सुख-सम्पदा वाजि वृषभ गजराज।
मणि माणिक मोती महल, प्रेमी स्वजन-समाज॥
आया है क्या साथ में, जाएगा क्या साथ ?
जीव अकेला जायगा, बन्धु! पसारे हाथ॥
घिरे रहो परिवार से, पर भूलो न विवेक।
'रहा कभी मैं एक था, अन्त एक का एक॥'

जगत् में उत्पन्न होने वाले कोई भी जीव अपना पूर्व जन्म का परिवार साथ में नहीं लाते। विशाल सम्पत्ति और

विराट ऐश्वर्य सब जहाँ का तहाँ रह जाता है। हाथी-घोड़ा, महल-मकान आदि, जिन पर मनुष्य नाज़ करता है और जिनके कारण दूसरों को तुच्छ समझता है, कुछ भी साथ नहीं जाता। अकेला ही जीव आता और जाता है। यह ऐसा सत्य है कि प्रत्येक मनुष्य प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है। अतएव परिवार और प्रचुर वैभव से घिरे रहने पर भी यह नहीं भूल जाना चाहिए कि मैं कभी अकेला था और फिर अकेला होऊँगा। स्मरण रखो, आत्मा अकेला ही अपने कर्मों का फल भोगता है। कर्मों का भोग करने में कोई भागीदार नहीं होता।

हे भव्यो! इस तथ्य पर विश्वास रक्खो। विश्वास न आता हो तो एक काम करो। जब तुम्हारे शरीर में कोई पीड़ा उत्पन्न हो तो अपने परिवार के लोगों को बुलाना और उनसे कहना-'बन्धुओ! मुझे पीड़ा सता रही है। मैं अकेला इसे सहन नहीं कर सकता। थोड़ी थोड़ी पीड़ा तुम भी बाँट लो तो मेरी पीड़ा कम हो जाय? तुम लोग मेरी सम्पत्ति के हिस्सेदार हो तो दुःख-दर्द के भी हिस्सेदार बनो।'

ऐसा कहने पर वे क्या तुम्हारी पीड़ा बाँट लेंगे? क्या तुम्हारी पीड़ा कम कर सकेंगे? नहीं। तो फिर समझ लो कि तुम्हें अपने पाप और पुण्य का फल अकेले ही भुगतना पड़ेगा!

थोड़ी-थोड़ी बाँट दे, प्रबल रोग की पीड़।
आसपास में जो खड़ी, सगे जनों की भीड़!
कर जिनके हित पाप तू, चला नरक के द्वार।
देख, भोगते स्वर्गसुख, वे ही अपरम्पार॥

अरे भाई ! कोई तेरी पीड़ा में हिस्सा लेने वाला नहीं है। जिनका पालन-पोषण करने के लिए, जिनको सुखी बनाने के लिए तूने पाप किया है वे तेरे पाप में हिस्सा नहीं लेंगे। तेरे पापों का फल नहीं भोगेंगे। इस अमर सत्य को तू भूल मत जा।

इस कथन का आशय उलटा नहीं समझना चाहिए। कोई यह न समझ ले कि मैं परिवार के लोगों का भरण-पोषण करने का निषेध कर रहा हूँ। नहीं, मैं तो यह कहता हूँ कि तू परिवार के लोगों का भरण-पोषण करने में ही जीवन की सफलता मत समझ। जैसे अपने जीवन को भोग-विलास में गँवा देना या किसी प्रकार जीवननिर्वाह कर लेना ही इस जीवन का लक्ष्य नहीं है, उसी प्रकार परिवार के पालन-पोषण करने में ही जीवन का उद्देश्य पूर्ण नहीं हो जाता। जीवन की असली सार्थकता तो आत्मा के शाश्वत कल्याण की प्राप्ति में है। संसार का कार्य करते हुए भी उस लक्ष्य को विस्मृत कर देना उचित नहीं है।

इसके अतिरिक्त, अपने लिए या अपने परिवार के लिए भी पाप का आचरण नहीं करना चाहिए। क्योंकि पाप से कदापि सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती।

सम्यग्दृष्टि पुरुष सीधी बात समझता है और मिथ्यादृष्टि मनमानी कल्पना करके अनेक औंधे निष्कर्ष निकाल लेता है।

संसार में सर्वत्र स्वार्थ की सगाई है। बेटा माता से मीठा बोलता है, माता बेटे से मीठी बोलती है; इसी प्रकार पति पत्नी से और पत्नी पति से जो प्रेम करती हैं सो सब स्वार्थप्रेरित

है। जब दुनिया अपना-अपना स्वार्थ-साधन कर रही है तो तुम भी अपना हित सिद्ध क्यों नहीं करते ? तुम्हारा हित है सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र का विकास करना। जिससे आत्मा का वास्तविक कल्याण हो, वही काम करना चाहिए।

मगर इस बात को समझना कठिन है! कल्दारों का ढेर लगा हो और कोई कहे कि गठरी बाँध कर ले जाओ तो कितनी बड़ी गठरी बाँध कर ले जाओगे ? भाइयो! जैसे कल्दारों से प्रेम है, उसी प्रकार धर्म से भी प्रेम करो। धर्म से तुम्हारा कल्याण होगा, धन से नहीं होने वाला है। मगर तुम तो धर्म से कल्दारों के बराबर भी प्रेम नहीं करते! जानबूझ कर भी अनजान बनते हो कि कल्दार यहीं धरे रह जाएँगे और धर्म साथ जाएगा।

पूछा जाता है-कहिए सेठजी, कल सामायिक नहीं की ?

सेठजी कहते हैं-क्या करूँ महाराज, धंधा अधिक रहता है। फुर्सत ही नहीं मिलती!

ठीक है साहब! यह धंधा ही असली चीज है-इसी से तुम्हारा कल्याण हो जाएगा। यही धंधा तुम्हें स्वर्ग के सुख प्राप्त करा देगा और यह धंधा करते-करते ही मोक्ष भी पा लोगे ?

विवाह-शादी हो तो दो-तीन महीने तक दुकान छोड़कर यहाँ चले आते हो और साधु का चौमासा हो तो चार दिन का भी अवकाश नहीं मिलता!

इस प्रकार अज्ञानी जीव जगत् के जंजाल में फँसा-फँसा

सारी उम्र बर्बाद कर देता है। जैसे मदिरा पीने वाला मनुष्य नशे में मस्त होकर भूल जाता है कि यह मेरी माता है या पुत्री है अथवा पत्नी है; इसी प्रकार मोह के नशे में मस्त संसारी जीव भी भान भूल रहा है। इसे खबर ही नहीं कि मुझे आगे भी जाना है! जिसे आगे जाने का खयाल होगा-परलोक की यात्रा करने का ध्यान होगा, वह धर्मोपार्जन से विमुख नहीं रह सकता। उसे साथ में कुछ खर्च ले जाने की चिन्ता होगी।

राजा उदायी सोलह देशों का राजा था। सोने और जवाहरात की उसे क्या कमी थी? अपार वैभव उसके पास था। फिर भी उसने उस पर मोह नहीं किया। उसे परलोक की यात्रा की चिन्ता हुई और वह खर्ची साथ लेने को तैयार हो गया। इस प्रकार पुण्यवानों को उपदेश लगता है। पापी जीवों को क्या उपदेश लगेगा!

पूरी पुण्यवानी हो जिस जीव के।
लागे ज्ञान उसी को ॥

भाइयो! जिसके पूर्ण पुण्य का उदय होगा, वही परलोक के लिए माल खरीदेगा। देखो, भगवान् की परिषद् में हजारों श्रोता मौजूद थे। किन्तु उदायी महाराज पर उसका कैसा प्रभाव पड़ा! उपदेश समाप्त हो जाने पर उदायी ने कहा-प्रभो! आप धन्य हैं। आप हमारे महान् पुण्य के उदय से यहाँ पधारे हैं। आपके अमृतमय वचन सुन करके मैं कृतार्थ हुआ। आपने मुझ पर असीम अनुग्रह किया है। मेरा अज्ञान दूर हो गया। मुझे आत्महित का मार्ग सूझने लगा। मेरी मोह-निद्रा भंग हो गई है। हे तारनतरन! आपके उपदेश-वचनों

को सुन कर मैं जीवन के ध्येय को भलीभांति समझ गया हूँ। यह राजपाट आदि सब विभूति आत्मा का त्राण नहीं कर सकती। अतएव मैं सच्चे त्राता धर्म की शरण लेना चाहता हूँ। मैं १६ देशों के ताज को उतार कर फैंकता हूं और आपके चरणों की शरण में आना चाहता हूं। प्रभो! मुझे शरण में लीजिए।

भगवान् ने निस्पृह भाव से कहा-'जहासुहं देवाणुप्पिया! मा पडिबधं करेह।' अर्थात् हे देवों के वल्लभ! जिसमें सुख हो वही करो। शुभ कार्य में ढील नहीं करना चाहिए।

महाराजा उदायी भगवान् को वन्दना-नमस्कार करके वहाँ से रवाना हुआ। उसके मन में संयम पालन करने के लिए अपूर्व उत्साह उदित हुआ था। वह सोचने लगा-कब मैं इस राजमुकुट से पिण्ड छुड़ाऊँ और कब इस परिग्रह का त्याग कर निर्द्वन्द्व अवस्था भोगूं! अहा, कौन-सा वह क्षण होगा जब मैं जगत् के जंजाल से उन्मुक्त होकर आत्मशान्ति में तन्मय होऊँगा!

विचार करते-करते अचानक उसे ध्यान आया-मेरा एक ही पुत्र है और वह मुझे अतिशय प्रिय है। उसी को मैं अपना विस्तृत राज्य दूंगा। किन्तु वह राज्य में आसक्त हो गया तो उसकी क्या दशा होगी? वह मोह-माया में डूब जायगा और नरक में जाकर दुःख भोगेगा। यदि राज्य करने में धर्म होता तो मैं ही क्यों छोड़ता? राज्यवैभव सुख का साधन होता तो चक्रवर्त्ती क्यों त्याग कर मुनि बनते? पुत्र को राज्य देना उसे संसार के दुःखमय मार्ग पर चलने की प्रेरणा देना है। जिस दुःख से मैं बचना चाहता हूँ, उस दुःख में अपने लड़के

को घसीटना मेरे लिए योग्य नहीं है। मैं अपने प्रिय पुत्र का अहित नहीं कर सकता। मैं अपने हाथों संसार-सागर में नहीं डुबा सकता। यह राज्य अगर मैं अपने भागिनेय (भाणेज) को दे दूंगा तो लड़का धर्म ध्यान तो करेगा !

राज सभा में उपस्थित होकर राजा उदायी ने घोषणा कर दी। उन्होंने प्रकट कर दिया कि मैं आत्म कल्याण की साधना के लिए इस राज्य का परित्याग करता हूँ। अभी तक मैंने प्रजा का पालन किया है, अब आत्मा का उत्थान करूँगा। मेरा अब तक का जीवन बाह्य शत्रुओं को जीतने में लगा। बाह्य शत्रुओं को जीत लेने पर भी आत्मा की समस्या का स्थायी समाधान नहीं हो सकता। किन्तु राग द्वेष आदि आन्तरिक रिपुओं को जीत लेने पर कुछ भी करना शेष नहीं रह जाता। अतएव मैं आत्मा के असली शत्रुओं को ही जीतने का प्रयत्न करूँगा। आन्तरिक रिपुओं को जीत लेने पर बाहरी शत्रु कोई रह ही नहीं जाता।

मैंने अपने राज्य का भार अपने भागिनेय को सौंपने का निश्चय किया है। आप लोग अब तक जिस प्रकार मेरी आज्ञाओं का आदर करते आये हैं, उसी प्रकार नवीन राजा के भी आदेशों का पालन करें। इसी में प्रजा का और राष्ट्र का हित है !

तत्पश्चात् भागिनेय को राज्य देकर महाराज उदायी निवृत्त हो गये। वे फिर भगवान् महावीर के चरणों में उपस्थित हुए। भगवान् को वन्दना की। फिर ईशान कोण में जाकर वस्त्र और आभूषण उतारे और साधु का वेष धारण किया। फिर प्रभु के सन्मुख आकर निवेदन किया-तारनतरन !

मुझे अपने चरणों की नौका का सहारा दीजिए, जिससे मैं भव-सागर को पार कर सकूँ। मैं जीवन पर्यन्त सर्वविरति सामायिक को अङ्गीकार करके विचरना चाहता हूँ। पाँच महाव्रतों, पाँच समितियों और तीन गुप्तियों की आराधना करना चाहता हूँ। प्रभो ! मेरी अभिलाषा पूर्ण कीजिए। मुझ पर अनुग्रह कीजिए। मैं आपकी शिष्यता स्वीकार करता हूँ।

भगवान् ने राजा उदायी को आर्हती दीक्षा देकर निर्ग्रंथ श्रमणसंघ में सम्मिलित कर दिया। राज्य त्याग कर उदायी राजा से महाराज बने, मासखमण की तपस्या आरम्भ की। समस्त अंगशास्त्रों का ज्ञान प्राप्त किया। विशेष साधना के लिए वे गच्छ का त्याग कर अकेले विचरने लगे और अभिग्रहधारी बन गये। बस, आत्मसाधना में ही पूर्ण रूप से मग्न हो गए। आत्मा को जगाने के लिए, आत्मा को उठाने के लिए और आत्मा का परम ज्योतिस्वरूप प्रकट करने के लिए वे तीव्र तपश्चर्या करने लगे। उन्होंने सोचा—राज्य का त्याग किया है तो इसी भव में मुझे अपना चरम कल्याण कर लेना है। बस, यह शरीर मेरा नहीं और मैं इस शरीर का नहीं !

मुनिराज उदायी विचरते-विचरते अपने नगर में आये। नगर के बाहर उद्यान में ठहर गये। नगर में विद्युत्-वेग से समाचार फैल गया कि अपने पहले अन्नदाता महाराज मुनि के रूप में पधारे हैं। समाचार मिलते ही नगर के प्रतिष्ठित सेठ-साहूकार, राज्याधिकारी, सर्वसाधारण जनता, बालक-वृद्ध, नर-नारी, सब के सब हजारों की संख्या में दर्शन करने उमड़ पड़े।

वीतभय पट्टन के वर्त्तमान राजा-उदायी के भागिनेय-को भी मुनि के पदार्पण का संवाद मिला। तब वह सोचने लगा-मेरे सब राज्याधिकारी मुनि के दर्शन करने गये हैं। कहीं ऐसा न हो कि वे सिखाकर या आग्रह करके फिर उदायी मामा को राजसिंहासन पर आसीन कर दें!

इस प्रकार अकारण ही भयभीत होकर राजा ने पटह फिरवा दिया कि जो उदायी मुनि को अपने स्थान में ठहराएगा और आहार-पानी देगा, वह राज्य का गुनहगार समझा जायगा। उसे राज्य से निर्वासित कर दिया जायगा और उसकी समस्त सम्पत्ति छीन ली जाएगी।

अभी तक मुनिराज नगर के बाहर थे। उन्हें राजा के इस आदेश का पता नहीं था। अचानक उनको ज्वर ने घेर लिया। अतएव उन्होंने सोचा-'बस्ती में जाकर आहार-पानी ले लूँगा अवसर होगा तो वहीं कहीं निर्दोष स्थान में ठहर जाऊँगा।' यह सोच कर वे बस्ती में पधारे।

ऐ धर्मध्यान करने वालो, मुँहपत्ती बाँधने वालो, श्रावको! अब तुम्हारी परीक्षा होती है कि तुम धर्म के कितने अनुरागी हो!

श्रावकों ने विचार किया-राजा की आज्ञा को भंग करने में कुशल नहीं है। समुद्र में रह कर मगर से वैर करना अच्छा नहीं। जिसके राज्य में रहना है, उसकी उचित-अनुचित सभी बात माननी पड़ेगी। यह सोच कर किसी ने द्वार पर सचित्त पानी फैला दिया, किसी ने आंगन में अनाज बिखेर दिया और किसी ने कह दिया-आहार-पानी का जोग नहीं है!

मुनिराज कहने लगे-मेरा जी घबरा रहा है। शरीर को विश्राम देने की आवश्यकता है। कहीं ठहरने को तो स्थान दो!

मगर किसी ने कुछ और किसी ने कुछ बहाना बना दिया। मुनिराज को कहीं ठहरने की जगह भी न मिली। कर्मों का फल देखिए। मुनिराज, उदायी सोलह देशों के राजा थे! विस्तृत भूखण्ड पर उनकी सत्ता थी। बड़े-बड़े राजा उनके चरणों में झुकते थे। जिस पर उनकी दृष्टि पड़ जाय, वह अपने को कृतार्थ समझता था। किन्तु आज ऐसे कर्म उदय में आए कि उदरपूर्त्ति के लिए भोजन और ठहरने को टूटी-फूटी झोंपड़ी भी नहीं पा रहे हैं! और वह भी उसी जगह जहाँ उनका राज्य था! वास्तव में कर्म बड़े बलवान् हैं। वे किसी के साथ रियायत नहीं करते; रियायत करना ही नहीं जानते।

मुनिराज अशुभ कर्म का उदय आया जान कर समभाव से चले जा रहे थे। एक कुंभार का घर आया। कुंभार बर्त्तन बना रहा था। उसने ज्वर से अभिभूत मुनि को देखा तो सामने आया। पूछने पर मालुम हुआ कि उनका शरीर ज्वर से आक्रान्त है।

कुंभार के हृदय में घोर विषाद उत्पन्न हुआ। वह राजा की नीचता का विचार करने लगा। जिनकी कृपा से आज यह राजा बना है, उन्हीं के प्रति यह द्रोह! हद हो गई नीचता की और कृतघ्नता की! आह क्या मनुष्य अधःपतन के इतने गहरे गर्त में गिर सकता है? मुनि को आहार-पानी देने और स्थान देने से राजा का क्या बिगड़ता है? फिर भी न जाने क्यों राजा ने ऐसा पापमय आदेश जारी किया है! राजा के हुक्म से लोग मुनिराज को न आहार--पानी दे रहे हैं, न ठहरने को स्थान

दे रहे हैं ! ऐसा तो कभी नहीं हुआ ! यह राजा का घोर अन्याय है ।

मगर जनता भी कितनी भीरु है ! वह राजाज्ञा का विरोध नहीं करती ! चुपचाप इस अनीतिपूर्ण आदेश का पालन करके अपनी आत्मा का हनन कर रही है । राजा के डर से लोगों ने धर्म का परित्याग कर दिया है ! यह कितने परिताप का विषय है ! ऐसी नामर्द जनता देश का क्या भला करेगी !

तो कुंभार ने मुनिराज से कहा-भगवन् ! अनुग्रह कीजिए । यह मेरा मकान है आप यहाँ ठहरिए और विश्राम कीजिए । यह घास प्रासुक है, आवश्यकतानुसार इसे ग्रहण कीजिए ।

कुंभार साहसी पुरुष था । उसने निडर होकर मुनिराज को ठहरने का स्थान दिया ।

लोग उससे कहने लगे-अरे मूर्ख, राजा तेरा घर छीन लेगा !

कुंभार ने कहा-घर छीन लेंगे या तकदीर छीन लेंगे ? कच्चा मकान है, यहाँ नहीं तो और कहीं बना लूंगा । बर्त्तन-भांडे मिट्टी के हैं, राजा चाहे तो ले जाय । मैं और बना लूंगा । मेरे पास गधे हैं । राजा की घुड़साल खाली हो तो ले जाकर उन्हें बाँध ले !

आवाज़ आई-राजा शूली पर चढ़वा देगा तो ?

कुंभार-इसकी भी मुझे चिन्ता नहीं । ऐसी मौत भाग्यवान् को ही मिलती है । मुझे विश्वास नहीं कि मैं इतना भाग्यवान् हूँ । अगर धर्म के लिए प्राण चले जाएँ तो जीवन

सार्थक हो जाय ! मौत आज या कल आने वाली ही है। फिर उसका भय क्या ! धर्म की रक्षा करने वाले की रक्षा धर्म करता है। कहा भी है:—

धर्मो रक्षति रक्षितः ।

जो धर्म की रक्षा करता है, उसकी धर्म भी रक्षा करता है। पर मुझे अपने प्राणों का लोभ नहीं है । धर्म का लोभ है। धर्म रह जाय और सर्वस्व चला जाय तो मैं चिन्ता नहीं करूँगा ! चिन्ता की बात तब होगी जब धर्म चला जाएगा। धर्म के प्रताप से ही सब सामग्री प्राप्त होती है। धर्म के रहने पर वह कहीं जा नहीं सकती और धर्म के चले जाने पर वह नहीं रह सकती। अतएव तुम लोग मेरी चिन्ता न करो। तुम अपनी सम्पत्ति को सँभाल कर बैठे रहो। मैं तुम्हारी तरह धर्म को ठुकराने वाला नहीं!

भाइयो ! प्रकार की भावना उसी समय जागृत होती है, जब तीव्र पुण्य का उदय होता है।

उधर मुनिराज पूर्ण रूप से समभाव में विचर रहे थे। इतना तीव्र परिषह आने पर भी उनके चित्त में लेश मात्र भी व्याकुलता या विषमता नहीं आई। क्षण भर के लिए भी वे उद्विग्न नहीं हुए। उन्होंने इन आगन्तुक संकटों को कर्मनिर्जरा का कारण समझा और शान्ति के साथ सहन किया।

उधर राजा को पता चला कि एक कुंभार ने मुनि को अपने स्थान में ठहरा लिया है तब उसने सोचा कि छीनूँ तो कुंभार से क्या छीनूँ ? परन्तु अब उसने कुटिल नीति अंगीकार की। उसने अच्छे-वैद्य को बुलाया और कहा-उदायी राजा को

औषध दो और उसमें विष मिला दो। किसी भी तरीके से उनके प्राणों का अन्त हो जाना चाहिए। कुशलता के साथ यह काम करोगे तो तुम्हें जागीर दी जायगी।

भाइयो! संसार में पैसे का प्रलोभन बड़ी चीज़ है। प्रलोभन में पड़ कर मनुष्य क्या-क्या नहीं कर गुज़रते है? वैद्य लोभी था। उसने राजा की इच्छा के अनुसार काम करना स्वीकार कर लिया।

वैद्यराज! नमस्तुभ्यं, यमराजसहोदर!
यमस्तु हरति प्राणान्, वैद्यः प्राणान् धनानि च॥

हे यमराज के सगे भाई वैद्यराज! तुम्हें नमस्कार हो। यमराज तो सिर्फ प्राण लेता है, किन्तु तुम प्राण भी लेते हो और धन भी लेते हो।

कवि का यह कथन ऐसे ही दुष्ट वैद्यों को लक्ष्य करके है। यह वैद्य इसी कोटि का था।

वैद्य सवारी में बैठ कर मुनिराज के पास आया। नमस्कार करके बोला-महाराज! मैं वैद्य हूं और आपकी रुग्णता का समाचार पाकर उपस्थित हुआ हूं। आप रुग्णता की चिन्ता न करें। मैं दवा देकर शीघ्र ही आपको समस्त रोगों से मुक्त कर दूँगा।

मुनिराज ने कहा-आपकी भावना भले प्रशस्त हो, मगर मैं मुनि हो गया हूँ। मैं ने चिकित्सा कराने का त्याग कर दिया है। असाता का उदय समाप्त होने पर रोग स्वयं उपशान्त हो जाएगा। शारीरिक रोग अपने आप में कोई रोग

नहीं है। यह तो आत्मा के कर्म रूपी रोग का फल है। इस बीमारी की जड़ असातावेदनीय है । जब तक जड़ मौजूद है, अंकुर फूटते ही रहेंगे। हमारा कर्त्तव्य तो रोगों की उस जड़ को काट फेंकना है । उसी साधना में लगा हूँ। आप रोग मिटा सकते हैं, रोग की जड़ को नहीं मिटा सकते। जिस आत्मा में वह जड़ है, वही आत्मा उसे काट कर फेंक सकती है। आप आज एक रोग को शान्त कर देंगे तो कल दूसरा रोग उभर आएगा। जब तक कारण मौजूद है, कार्य होता ही रहेगा। अतएव आप कष्ट न करें।

वैद्य बोला—महाराज ! आपका कथन ऋषियों के योग्य है। आप अपने कर्त्तव्य का पालन कर रहे हैं तो मुझे भी अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए ।

यह कह कर वैद्य ने जबर्दस्ती ज़हर का प्याला पिला दिया। मुनिराज सब मर्म समझ गये फिर भी उन्होंने समभाव का परित्याग नहीं किया। सोचा-इसमें राजा का दोष नहीं है। उसने मुझे ज़हर दिलाया है तो उसके प्रभाव से मैं एक ही बार मरूँगा, किन्तु मैंने उसे राज्य का ज़हर दिया है। उसके प्रभाव से उसे कितनी ही बार जन्म-मरण करना पड़ेगा। इस प्रकार समभाव में झूलते हुए मुनिराज ने तत्काल केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त कर लियो। निरंजन निराकार पद में पहुँच कर अरिहंत हो गये। स्वर्ग के देवों ने पुष्पवर्षा की।

उदायी महाराज की रानी प्रभावती पहले ही संयम ग्रहण करके और आयु पूर्ण करके पाँचवें देवलोक में पहुँच गई थी। उसने अवधिज्ञान का उपयोग लगाया तो उसे विदित हुआ कि मेरे पूर्वभव के पति मुनिराज उदायी निरंजन-निरा-

कार पद पर प्रतिष्ठित हो गये हैं और राजा ने उन्हें विष दिलवा दिया है।

भाइयो! साधु-सन्त के प्रति दुर्भाव रखना घोर पाप है। अगर कोई उनके विरुद्ध प्रवृत्ति करता है तो समझ लीजिए कि उसके बुरे दिन आ गये हैं। कहा है:—

खोटे काम सूझते हैं जब खोटे दिन आजाते हैं।

जब बुरे दिन आने को होते हैं तब ही खोटी बुद्धि सूझती है। बुद्धि उलटी हो जाती है।

देवता को मुनिराज के प्रति किये गये नृशंस व्यवहार से अत्यन्त क्रोध आया। उसने कुंभार के घर को छोड़ कर सारे वीतभय पट्टन के मकानों को उलट दिया। सारे नगर में त्राहि-त्राहि मच गई! मुनिराज उदायी कुछ ही समय में मोक्ष पधार गये।

आशय है कि वीतराग भगवान् की शरण लेने वाली आत्माएँ स्वयं भी वीतराग बन जाती हैं। देखो, उदायी महाराज ने सर्वज्ञ प्रभु महावीर का आश्रय लिया तो उन्हें भी सर्वज्ञ बना दिया!

आत्मा को परमात्मा बना देने की विशेषता जैनधर्म में ही है। जैनधर्म का मुख्य संदेश यही है कि प्रत्येक आत्मा स्वभाव से ही परमात्मस्वरूप है। किन्तु अनादि काल से वह स्वरूप कर्मों के द्वारा आवृत है। संवर और निर्जरा के द्वारा कर्मों का क्षय किया जाता है। संवर नवीन कर्मों को रोकता है और निर्जरा से पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय होता है। इस प्रकार

जब नये कर्म आते नहीं और पहले के क्षीण हो जाते हैं तो आत्मा सर्वथा निष्कर्म हो जाता है । यही मुक्त दशा की प्राप्ति है ।

जैनधर्म ने इस रूप में मनुष्य के सामने बहुत ऊँचा आदर्श प्रस्तुत किया है । कोई तो परमात्मा को अनादि-सिद्ध ईश्वर मानते हैं । उनके मतानुसार परमात्मा एक ही है और दूसरा कोई परमात्मा बन ही नहीं सकता । किसी-किसी के मन्तव्य के अनुसार कोई भी आत्मा कभी भी सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन ही नहीं सकता । ऐसे-ऐसे अनेक प्रकार के मंतव्य हैं । यह सब मंतव्य मनुष्य को उत्साह देने वाले नहीं हैं । इनसे ऊँची प्रेरणा नहीं मिलती । किन्तु जैनधर्म ऊँची से ऊँची प्रेरणा देता है । इसी अभिप्राय से आचार्य महाराज ने कहा है कि हे प्रभो ! तू अपने आश्रित जन को अपने ही समान बना लेता है ।

भाइयो ! इस महान् आदर्श को अपने सामने रक्खो । अपनी आत्मा को परमात्मा बनाने वाले मार्ग का अवलम्बन करो । आदर्श स्वामी और आदर्श सेवक बनने का प्रयास करते रहो । ऐसा करोगे तो सदा आनन्द ही आनन्द होगा ।

१६-१-४६ }

## ११
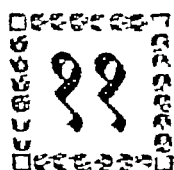
# स्वाध्याय की महिमा

स्तुतिः—

आस्तां तव स्तवनमस्तसमस्तदोषम्,
त्वत्संकथाऽपि जगतां दुरितानि हन्ति ।
दूरे सहस्रकिरणः कुरुते प्रभैव,
पद्माकरेषु जलजानि विकास भाञ्जि ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं कि—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन्! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय? प्रभो! कहाँ तक आपके गुण गाये जाएँ?

देवाधिदेव! आपकी स्तुति की बात तो दूर रही, आपकी कथा भी जगत् के जीवों के समस्त पापों को नष्ट कर देती है। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। सूर्य तो बहुत

दूर है, किन्तु सूर्य की प्रभा ही सरोवरों में कमलों को विकसित कर देती है।

भाइयो ! भगवान् ऋषभदेव तीसरे आरे में उत्पन्न हुए थे और तीसरे आरे में ही मोक्ष पधार गये। फिर चौथा आरा आया। वह बयालीस हजार वर्ष न्यून एक कोड़ा कोड़ी सागरोपम का था। वह भी धीरे-धीरे क्षण-क्षण करके चला गया। उसमें अजितनाथ आदि शेष तेईस तीर्थङ्कर हुए। तत्पश्चात् यह पाँचवाँ आरा आया। इस आरे के भी लगभग अढ़ाई हजार वर्ष बीत चुके हैं।

इस कालगणना के अनुसार विचार करें तो मालूम होगा कि भगवान् ऋषभदेव और हमारे बीच में बहुत लम्बे समय का व्यवधान है। इतने वर्षों का अन्तर है कि उसे वर्षों के रूप में गिनना भी हमारे लिए संभव नहीं है। यह तो काल-भेद की बात है।

स्थान भेद भी कम नहीं है। ऋषभदेव भगवान् सिद्ध हो चुके हैं। सिद्ध परमात्मा कहाँ रहते हैं ? इस विषय में शास्त्र में कहा है:—

कहिं पडिहया सिद्धा, कहिं सिद्धा पइट्ठिया ?
कहिं बोदिं चइत्ताणं, कत्थ गत्तूणसिज्झइ ? ॥

अर्थात् सिद्ध प्रभु कहाँ पहुँच कर रुके हैं ? कहाँ पहुँच कर विराजमान हैं ? वे शरीर का त्याग कर कहाँ जाकर सिद्ध हुए हैं ?

इन प्रश्नों का उत्तर इस प्रकार दिया गया है:—

अलोए पडिहया सिद्धा, लोयग्गे य पइट्ठिया ।
इहं बोदिं चइत्ताणं, तत्थ गंतूण सिज्झइ ॥

—उववाईसूत्र

अर्थात्—सिद्ध भगवान् अलोक में रुक गये हैं और लोक के अग्रभाग में विराजमान हैं। वे इस मनुष्यलोक में शरीर का त्याग करके वहाँ अर्थात् लोक के अग्रभाग में सिद्ध हुए हैं।

जैसे पुद्‌गल का स्वभाव नीचे की ओर गति करने का है और वायु आदि का स्वभाव तिर्छी गति करने का है, उसी प्रकार जीव का स्वभाव ऊर्ध्वगति करने का है। यद्यपि कर्मों के भार से गुरु होने के कारण आत्मा सदैव ऊपर की ओर गति नहीं करती, और कर्मोदय के अनुसार कभी ऊपर, कभी नीचे और कभी तिर्छी दिशा में गति करती है, तथापि स्वभाव उसका ऊर्ध्वगमन करने का ही है। अतएव जब समस्त कर्मों का अन्त हो जाता है और आत्मा अपने असली स्वभाव में आ जाती है, तब वह ऊपर की ओर जाती है और चली ही जाती है न किसी से रुकती है, न किसी को रोकती है, क्योंकि वह अरूपी है। किन्तु जीव और पुद्‌गल की गति में धर्मास्तिकाय निमित्त कारण है। अतएव जहाँ तक यह निमित्त कारण मिलता है, वहीं तक गति होती है। जहाँ धर्मास्तिकाय नहीं, वहाँ आत्मा की भी गति नहीं होती। धर्मास्तिकाय लोक के अन्त तक ही है, अतएव सिद्ध आत्मा की गति भी वहीं तक होती है। उससे आगे नहीं।

तात्पर्य यह है कि हम लोग मध्यलोक में हैं और भगवान् ऋषभदेव की आत्मा ऊर्ध्वलोक के अन्त में है। नीचे से

ऊपर तक लोक की लम्बाई चौदह राजू परिमाण है। राजू का परिमाण कुछ साधारण नहीं है। तीन करोड़ इक्यासी लाख, सत्ताईस हजार, नौ सौ सत्तर मन का एक भार कहलाता है। ऐसे एक हजार भार का लोहे का गोला हो। उसे कोई देवता ऊपर से नीचे फैंके और पूरी शक्ति के साथ फैंके। वह गोला छह महीने छह दिन, छह प्रहर और छह घड़ी तक नीचे की ओर चलता जाय। इतने समय मे जितनी दूरी को वह पार करे उतनी दूरी एक राजू कहलाती है। ऐसे-ऐसे चौदह राजू का यह लोक है। हम लोग नीचे से सात राजू की उँचाई पर रहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि सात राजू लोक हमारे ऊपर है। सिद्ध भगवान् इतनी ही उँचाई पर ठहरे हुए हैं।

इस प्रकार क्षेत्र की दृष्टि से विचार किया जाय तो भी भगवान् हमसे बहुत दूर हैं।

व्यवधान की दृष्टि से देखें तो हमारे और भगवान् के बीच में ज्योतिश्चक्र है, स्वर्ग विमान ग्रैवेयक विमान और, अनुत्तर विमान हैं। यहाँ से ७९० योजन की ऊँचाई पर तारे हैं। तारों से दस योजन ऊपर सूर्य का विमान है। यह विमान एक योजन के ६१ भाग में से ४८ भाग लम्बा-चौड़ा और २४ भाग ऊँचा है। सूर्य के विमान से ८० योजन की ऊँचाई पर चन्द्रमा है। चन्द्रमा का विमान एक योजन के ६१ में से ५६ भाग विस्तृत और २८ भाग ऊँचा है। चन्द्रविमान से ४ योजन ऊपर नक्षत्र है। इनसे चार योजन ऊपर ग्रहमंडल, इससे ४ योजन ऊपर बुध का तारा है। बुध से तीन-तीन योजन की ऊँचाई पर शुक्र और बृहस्पति के तारे हैं। इनसे भी तीन योजन पर मङ्गल का तारा है और मङ्गल से भी तीन योजन ऊपर शनैश्चर

का तारा है। इस प्रकार ७९० योजन की ऊँचाई से लेकर ९०० योजन की ऊँचाई तक अर्थात् ११० योजन के विस्तार में ज्योतिश्चक्र फैला हुआ है। यहाँ तक तो मध्यलोक की ही गणना है।

मध्यलोक के ऊपर, शनैश्चर के विमान से १॥ राजू की की ऊँचाई पर पहला और दूसरा देवलोक है। दोनों एक समान ऊँचाई पर स्थित हैं। दक्षिण दिशा में सौधर्म और उत्तर दिशा में ईशान नामक स्वर्ग है। इनके ऊपर आगे के देवलोक हैं। बारह देवलोकों के ऊपर, एक दूसरे के ऊपर नौ ग्रैवेयक विमान हैं और फिर पाँच अनुत्तर विमान हैं। इनमें चार विमान चारों दिशाओं में हैं और एक सर्वार्थसिद्ध विमान चारों के ऊपर है।

सर्वार्थसिद्ध विमान से १२ योजन ऊपर तक ही लोक की सीमा है। इसी में पैंतालीस लाख योजन विस्तार वाली गोलाकार सिद्धशिला है। सिद्धशिला के एक योजन ऊपर, सिद्ध भगवान् विराजमान हैं। यहीं लोकाकाश का अन्त हो जाता है।

इस व्यवधान की दृष्टि से विचार कीजिए कि भगवान् हमसे कितनी दूर पर स्थित हैं। हमारे और उनके बीच में कितनी ही वस्तुएँ अन्तर डाले हुए हैं।

सूक्ष्मता के लिहाज़ से सोचें तो भगवान् अरूपी-अमूर्त्तिक हैं। उनके रूप नहीं, रस नहीं, गंध नहीं, स्पर्श नहीं। वे अशरीर हैं, अनाकार हैं। हम अपनी इन्द्रियों से उनके स्वरूप को जान नहीं सकते, मन से उनके स्वरूप की कल्पना कर नहीं सकते, बुद्धि से जान नहीं सकते।

भाइयो! इस प्रकार भगवान् ऋषभदेव काल से भी हमसे दूर हैं, क्षेत्र से भी दूर हैं और सूक्ष्मत्व के लिहाज़ से भी बहुत दूर हैं। अब कोई विचार करे कि जो इतनी दूरी पर विराजमान हैं, उनकी स्तुति करने से क्या लाभ होगा? हमारी स्तुति उनके पास तक कैसे पहुंचेगी? किंतु ऐसी बात नहीं है। भगवान् ने हमें सिखलाया है कि—हे भद्र आत्मन्! तू आत्मा से परमात्मा को दूर मत समझ। तेरा आत्मा ही परमात्मा है। आत्मा और परमात्मा में अभेद का चिन्तन कर। शुद्ध हृदय से परमात्मा का गुणगान कर। ऐसा करने से तेरी आत्मा शुद्ध हो जायगी।

हे भगवान आदिनाथ! आप तो यहाँ से सात राजू की ऊँचाई पर सिद्धशिला में विराजमान हैं और हम जगत् के जीव यहाँ पर आपके गुणों का कीर्त्तन करते हैं। फिर भी आपका कीर्त्तन करने से उनके समस्त संकट दूर हो जाते हैं। इसमें न कोई आश्चर्य की बात है और न असंगति ही। प्रतिदिन देखते हैं कि सूर्य यहाँ से आठ सौ योजन की दूरी पर होने पर भी जब उदित होता है तो झट से सरोवर में कमल खिल उठते हैं। कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य को यहाँ नहीं आना पड़ता और न उन्हें विकसित होने के लिए सूर्य के पास जाना पड़ता है। सूर्य की प्रभा ही यहाँ के कमलों के विकास का कारण बन जाती है। इसी प्रकार भगवान् हम से कितनी ही दूरी पर स्थित क्यों न हों, शुद्ध अन्तःकरण से यदि उनकी स्तुति की जाय, निर्मल चित्त से उनका ध्यान किया जाय, तो आत्मा पवित्र हो जाती है।

ऐसी अपरिमित महिमा से मंडित, महा-महनीय गुणों

से विभूषित भगवान् आदिनाथ को ही हमारा बार-बार नमस्कार हो !

भाइयो ! मैं अनेक बार बतला चुका हूँ कि सब सिद्ध आत्माओं का स्वरूप समान है । जो गुण एक आत्मा में है, वही गुण सब आत्माओं में है । अतएव किसी भी तीर्थंकर का नाम लेकर स्तुति की जाय, वह सभी तीर्थङ्करों की स्तुति है । नाम में भेद है, स्वरूप में भेद नहीं है । अतएव यहाँ भगवान् ऋषभदेव के विषय में जो कुछ कहा गया है, वही अजितनाथ, संभवनाथ, अभिनन्दन और अन्ततः महावीर स्वामी के विषय में समझना चाहिए । स्तवन करने के लिए किसी न किसी नाम की आवश्यकता होती है । नाम का आश्रय लिये बिना काम नहीं चलता । परन्तु नाम के झगड़े में उड़ना उचित नहीं है ।

भाइयो ! चौवीसों तीर्थंकरों की कथाएँ हैं । उन सब की संक्षिप्त कथाएँ आप 'भगवान् महावीर का आदर्श जीवन' नामक ग्रंथ में देख सकते हैं । परन्तु देखना तो तब हो जब आपमें स्वाध्याय करने की रुचि हो । प्रतिदिन स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए । आज भगवान् नहीं है, भगवान् के मुखारविन्द से खिरने वाले वचन आप नहीं सुन सकते; किन्तु जो वचन खिर चुके हैं, उन्हें गणधरों ने शास्त्र के रूप में गूंथा है और आचार्यों ने उनके आधार पर अनेक ग्रन्थों की रचना की है । वह शास्त्र आज भी विद्यमान हैं । यह इस संसार का महान् सौभाग्य है कि भगवान् के वचन हमें उपलब्ध है । अतएव प्रतिदिन थोड़ा-बहुत समय निकाल कर अवश्य स्वाध्याय करना चाहिए ।

स्वाध्याय को भगवान् ने अन्तरंग तप बतलाया है । उसका बड़ा महात्म्य है । गौतम स्वामी ने स्वाध्याय का फल

पूछा और भगवान् ने उसका फल बतलाया है। उत्तराध्यायन-शास्त्र में उसका उल्लेख है। गौतम स्वामी पूछते हैं—

प्रश्न—सज्झाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—सज्झाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ।

अर्थात्—भगवान् ! स्वाध्याय करने से जीव को क्या लाभ होता है ? भगवान् फर्माते हैं कि स्वाध्याय करने से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय हो जाता है।

इसके अनन्तर फिर प्रश्न किया गया है:—

प्र०—सुयस्स आराहणाए णं भते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०—अन्नाणं खवेइ, न य संकिलिस्सइ।

प्र०—श्रुत की आराधना से जीव को क्या लाभ है ?

उ०—श्रुत की आराधना से अज्ञान का क्षय होता है और संक्लेश का भी अभाव हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि अज्ञानी जीव के चित्त पर संसार की, परिवार की और अपने निज के जीवन की घटनाओं का गहरा असर पड़ता है। तनिक सी प्रतिकूल घटना हुई या शरीर में रोग हो गया तो घबराने लगता है। धन-सम्पत्ति चली गई तो हाय-हाय करने लगता है। इष्टवियोग हो गया तो छाती कूटने लगता है ! किसी ने गाली दे दी तो क्रोध से जल उठता है, अपमान हो गया तो व्याकुल हो जाता है। इस प्रकार तरह-तरह की घटनाएँ उसके अन्तःकरण को क्षुब्ध करती रहती हैं। किन्तु स्वाध्याय करने वाला ज्ञानी पुरुष इस प्रकार के संक्लेश से बच जाता है। वह प्रत्येक परिस्थिति में समभाव रखता है।

कोई भी अनुकूल घटना घटने पर हर्ष से उन्मत्त नहीं होता और प्रतिकूल घटना होने पर विषाद का शिकार नहीं होता। अतएव उसके जीवन में अपूर्व शान्ति का साम्राज्य रहता है। उसका अज्ञान अंधकार मिट जाता है और ज्ञान के आलोक से आत्मा उद्भासित रहता है। वह ज्ञान के आलोक में रमण करता है। उसे दुःख स्पर्श नहीं करता, शोक अभिभूत नहीं करता। व्याधि पीड़ित नहीं करती। इष्ट संयोग हर्षित नहीं बनाता। अनिष्टसयोग या इष्टवियोग विषण्ण नहीं करता। ऐसा ज्ञानी संसार में रहता हुआ भी सांसारिक कथाओं से परे हो जाता है। उसके विषय में यथार्थ ही कहा है:—

जहा सुई ससुत्ता, पडिया वि न विणस्सइ।
तहा जीवो ससुत्तो, संसारे वि न विणस्सइ॥

जैसे सूत्र (सूत डोरा) सहित सुई गिर जाय तो भी गुमती नहीं है, उसी प्रकार सूत्र (शास्त्र ज्ञान) से युक्त जीव इस संसार में रहता हुआ भी ससार के क्लेशों से बच जाता है।

इस प्रकार स्वाध्याय करने से कर्मों की निर्जरा भी होती है और आत्मा को अपूर्व शान्ति भी मिलती है। इसी कारण स्वाध्याय की गणना अन्तरग तपस्या में की गई है।

श्रीदशवैकालिक सूत्र में श्रुतसमाधि के चार भेद बतलाये गये है:—

(१) सुअं मे भविस्सइ त्ति अज्झाइयव्वं भवइ।

(२) एगग्गचित्तो भविस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ।

(३) अप्पाणं ठावइस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ।

(४) ठिओ परं ठावइस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ।

—दशवैकालिक, ६-उ. ४.

शास्त्र का अध्ययन करने से चार उद्देश्य सिद्ध होते हैं। उन्हीं को लक्ष्य में रख कर अध्ययन करना चाहिए। वे यह हैं–

(१) मुझे श्रुत की प्राप्ति होगी, यह सोचकर अध्ययन करना चाहिए।

(२) मेरा चित्त नाना प्रकार की उलझनों और संकल्पों-विकल्पों से मुक्त हो जायगा, यह सोच कर शास्त्र का स्वाध्याय करना चाहिए।

(३) मैं अपनी आत्मा को धर्म में स्थिर कर सकूँगा, यह लक्ष्य करके शास्त्रपठन करना चाहिए।

(४) जब मैं स्वयं धर्म में स्थित हो जाऊँगा तो दूसरों को भी धर्म में स्थित कर सकूँगा; यह समझ कर स्वाध्याय करना चाहिए।

भाइयो! शास्त्र के इस कथन से स्पष्ट है कि चित्त की एकाग्रता के प्रधान साधन स्वाध्याय है। हमारा दैनिक अनुभव भी ऐसा ही है। आप सामायिक करके बैठते हैं तो क्या करते हैं? मुखपत्ती लगा कर और आसन बिछा कर बैठ जाने से ही सामायिक नहीं हो जाती। सामायिक का असली अर्थ है–मन का समभाव में आना। मन समभाव में तभी आ सकता है जब कि उसमें एकाग्रता आ जाय। और मन को एकाग्र करने

का सबसे उत्तम और साथ ही सब से सरल उपाय स्वाध्याय करना है।

स्वाध्याय न करके यों ही बैठ जाने से मन इधर-उधर दौड़ता रहता है। कभी सट्टा बाज़ार की सैर करने चला जाता है। तो कभी कपड़ा बाजार में भकटने लगता है। कभी रुई-कपास तोलने लगता है तो कभी ऊन का देनलेन करने लगता है। कभी गृह के जञ्जालों में व्यग्र हो जाता है तो कभी छोरा-छोरियों का विवाह-संबंध करने लगता है। इस प्रकार मन के चंचल होने से सच्ची सामायिक भी नहीं होने पाती।

लोक में कहावत है-निकम्मी लुगाई को नाते जाने की सूझती है। यह कहावत चाहे जैसी हो, पर मन के संबंध में ठीक बैठती है। निकम्मा मन पाप की ओर दौड़ता है। अतएव इसे काम में लगाये रखना ही योग्य है।

आप कह सकते हैं कि स्वाध्याय न करके यदि माला फेरी जाय तो क्या मन एकाग्र नहीं होगा ?

इस प्रश्न के उत्तर में यह कहना है कि माला फेरने की मनाई नहीं है। कोई उसका विरोध नहीं करता। मैं भी उसका निषेध नहीं करता। जो स्वाध्याय करने की योग्यता नहीं रखते, उन्हें अवश्य माला फेरनी चाहिए। मगर माला फेरने और स्वाध्याय करने में बड़ा अन्तर है। माला फेरने वाले को राम-राम तो याद ही है, वह भगवान का नाम तो वह जानता ही है और माला फेरते-फेरते वह नाम इतना अधिक अभ्यस्त और परिचित हो जाता है कि मन एकाग्रह न हो और इधर-उधर घूम रहा हो, तब भी नाम मुँह से निकलता जाता है

और माला फिरती जाती है। कोई-कोई तो बातें करते-करते भी माला को घूमाते रहते हैं।

आम तौर पर होता ऐसा है कि हाथ में माला रहती है और वह घूमती भी रहती है, किन्तु मन माला से भी अधिक घूमता रहता है। मन पाली के बाजार में घूमता है। अतएव माला की अपेक्षा भी स्वाध्याय करने से चित्त की एकाग्रता अधिक साधी जा सकती है।

भाइयो! मन की एकाग्रता शान्ति और सुख का मूल है और चंचलता दुःख का कारण है। मन का पाप ही वास्तव में पाप कहलाता है। एक विद्वान् कहते हैं:—

> मनसैव कृतं पापं, न शरीरकृतं कृतम्।
> येनैवालिंगिता कान्ता, तेनैवालिंगिता सुता॥

मन के द्वारा किया हुआ पाप ही पाप कहलाता है। मन के सहयोग के बिना केवल शरीर द्वारा किया गया आचरण पाप नहीं। लोक व्यवहार में ही देखो। शरीर से जिस प्रकार प्रियतमा का आलिंगन किया जाता है, उसी प्रकार पुत्री का भी आलिंगन किया जाता है। शारीरिक क्रिया में कोई अन्तर नहीं होता, किन्तु मन में अन्तर होता है। यही कारण है कि दोनों की भावना में अन्तर होने से एक क्रिया लोक में दूसरी दृष्टि से देखी जाती है और दूसरी क्रिया दूसरी दृष्टि से। दोनों में कितना अन्तर है? यह अन्तर मनोभावना के कारण ही है। अतएव ठीक ही कहा गया है:—

सुखाय दुःखाय च नैव देवा—
न चापि कालः सुहृदोऽरयो वा ।
भवेत्परं मानसमेव जन्तोः,
संसारचक्रभ्रमणैकहेतुः ॥

हे जीव ! तू निश्चय समझ कि कोई देवी-देवता तेरे सुख-दुःख के कारण नहीं हो सकते। कई लोग समझते हैं और विशेषतः बहिनें समझ बैठती हैं कि हमारे ऊपर अमुक देवी का कोप हो गया है, या अमुक देव नाराज़ हो गया है और वह सता रहा है; परन्तु यह मन की कल्पना मात्र है। कई लोग सोचते हैं कि काल हमें दुख दे रहा है। कइयों की धारणा बन जाती है कि शनैश्चर लग गया है! कई मंगल को अपने अमंगल का निमित्त मान लेते हैं। कोई-कोई समझते हैं कि हमारे शत्रु ने हमारा बिगाड़ कर दिया है! वह हमें कष्ट दे रहा है और हानि पहुँचा रहा है। परन्तु यह सब बहिरात्मा जीवों की मिथ्या कल्पनाएँ मात्र हैं। सचाई यह है कि कोई किसी को सुख-दुःख नहीं पहुँचा सकता। मनुष्य का मन ही उसके दुःखों की सृष्टि करता है और वही उसके सुख को उत्पन्न कर सकता है। संसार चक्र में भ्रमण कराने वाला मन ही है। अतः—

मनः संवृणु हे विद्वन् ! असंवृतमना यतः,
याति तन्दुलमत्स्यो द्राक् सप्तमीं नरकावनीम् ॥

तन्दुलमत्स्य, छोटा सा कीड़ा ! जरा-सी शरीर की अवगाहना ? वह शरीर से क्या पाप कर सकता है ! किन्तु मन के पापों के कारण-मानसिक दुर्भावना के प्रभाव से ठेठ

सातवें नरक में पहुँचता है ! अतएव हे ज्ञानी पुरुष ! तू अपने मन का संवर कर। अपने मन को काबू में कर। मन वशीभूत हो गया तो समझ ले कि तेरा निस्तार हो गया ! इसके विपरीत अगर तू अपने मन को न जीत सका तो मन अनियंत्रित बना रहा तो शरीर द्वारा की गई समस्त क्रियाएँ व्यर्थ हैं। ठीक ही कहा—

> यदि वहसि त्रिदंडं नग्नमुण्डं जटा वा,
> यदि वससि गुहायां पर्वताग्रे शिलायाम्।
> यदि पठसि पुराणं वेद-सिद्धान्ततत्त्वं,
> यदि हृदयमशुद्धं सर्वमेतन्न किञ्चित्॥

भाई ! भले तू त्रिदंड को धारण कर। भले नंगा रह। मूंड मूंडा ले या सिर पर जटा का भार धारण करके फिर। भले किसी अंधेरी गुफा में रह अथवा ऊँचे पर्वत की चोटी पर निवास कर। भले शिला पर आसन जमा कर बैठ। भले वेदों के सिद्धान्तों का पाठ कर। लेकिन तेरा हृदय यदि अशुद्ध है तो इससे कुछ भी नहीं होना-जाना है। आत्मा का कल्याण तो तभी होगा, जब तू अपने हृदय को शुद्ध बनाएगा।

सारांश यह है कि जीवन की पवित्रता को प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम मानसिक शुद्धि की आवश्यकता है। मनः शुद्धि के अभाव में शरीर से की जाने वाली समस्त क्रियाएँ यथेष्ट फल नहीं दे सकतीं। जब यह स्थिति है तो मन की पवित्रता के लिए ही प्रयास करना चाहिए। मन की पवित्रता उसकी एकाग्रता पर निर्भर है और मन की एकाग्रता का सबल साधन स्वाध्याय है। स्वाध्याय करते समय सभी इन्द्रियाँ और मन एकाग्र हो जाते हैं। अतएव स्वाध्याय करना परमोपयोगी है।

मन जब निष्कलुष हो जाता है तो आत्मा में अपूर्व ज्योति प्रकाशमान होने लगती है।

भाइयो ! कभी आपने विचार किया है कि पाप का वास कहाँ है ? पाप धन में या सोने-चांदी में है ? नहीं। हीरों और पन्नों में है ? नहीं। दूध-दही या कपड़ों में है ? नहीं पाप का वास तो मन में है। मन ही पापों का भंडार है।

आपके सामने पाँच स्त्रियाँ बैठी हैं। मन निर्णय करता है कि यह माता है, यह बहिन है और यह पत्नी है। आँखें सब को एक समान रूप में देखती हैं, किन्तु मन में अन्तर होता है।

मन को निरोध करने पर भारतीय शास्त्रों में बहुत बल दिया गया है। अनेक आचार्यों ने इसके लिए अनेक उपाय बतलाये हैं। यों कहना चाहिए कि योगशास्त्र की प्रक्रिया सारी की सारी मन का निरोध करने के लिए ही है। कई आचार्यों का कहना है कि सांस रोक लें तो मन एकाग्र रहेगा। लेकिन सांस कब तक रोकी जा सकती है ? थोड़ी ही देर में जी घबराने लगता है और जब सांस ली जाती है तो मन फिर चंचल हो जाता है।

मेरा अनुभव है कि मन को रोकने का सर्वोत्तम साधन स्वाध्याय है। स्वाध्याय का अर्थ यहाँ कंठस्थ किये हुए गद्य-पद्य को तोते की तरह बोलते जाना नहीं समझना चाहिए। जो पाठ बोला जा रहा है, उसका आशय समझते जाना और उसकी गहराई में मन को लगा देना आवश्यक है। ऐसा किये बिना मन अन्यत्र कहीं खिसक जायगा। कोरी तोता-रटन्त रह

जायगी। अतएव स्वाध्याय के लिए ऐसे ग्रन्थ का या पुस्तक का चुनाव करना चाहिए जो अपनी योग्यता के अनुरूप हो! जिसका आशय समझ में आ सके। स्वाध्याय करते-करते योग्यता बढ़ती जाय तो उसी के अनुरूप उच्चश्रेणी के ग्रन्थों का स्वाध्याय करते जाना चाहिए।

मन को प्रशस्त व्यापार में फँसाये रखने के लिए दूसरा कारगर उपाय अनानुपूर्वी गिनना है। अनानुपूर्वी में णमोकार-मंत्र के पाँच पदों के लिए संकेत रूप में १-२-३-४-५ अङ्क दिये जाते हैं। जहाँ एक का अङ्क हो वहाँ 'णमो अरिहंताणं' बोला जाता है, जहाँ दो का अङ्क हो वहाँ 'णमो सिद्धाणं' जहाँ तीन का अङ्क हो वहाँ 'णमो आयरियाणं' चार के अङ्क के स्थान पर 'णमो उवज्झायाणं' और पाँच के अङ्क की जगह 'णमो लोए सव्वसाहूणं' बोला जाता है।

अनानुपूर्वी में यह अंक उलट-पुलट करके दिये जाते हैं; अतएव उनके अनुसार णमोकारमंत्र का पद बोलने के लिए मन लगाना पड़ता है। मन अन्यत्र चला जाय तो अनानुपूर्वी ठीक तरह बोल नहीं जा सकती। अतएव जो स्वाध्याय नहीं कर सकते हैं, उनके लिए यह साधन बहुत उपयोगी है।

धर्मोपदेश सुनने से भी मन एकाग्र हो सकता है; किन्तु इसमें खतरा जरूर है। शब्द सुनते-सुनते भी कभी-कभी मन दूर दौड़ जाता है। धर्मोपदेश सुनने की उपयोगिता दूसरी दृष्टि से बहुत है, पर मन की एकाग्रता के लिए तो स्वाध्याय और अनानुपूर्वी गिनना अधिक कारगर उपाय हैं।

भाइयो! संक्षेप में यही समझ लो कि तुम्हारी समस्त साधना का प्रधान केन्द्र मन ही है।

## मन के जीते जीत है, मन के हारे हार।

मन को जीतने से ही असली जीत है और मन के हारने से हार है। तुम व्रत करो, उपवास करो, कुछ भी करो; जब तक मन को न जीत लोगे, तुम्हारा उद्देश्य सफल न होगा।

मन को जीत लेना समग्र विश्व को जीत लेना है। दुर्धर्ष शत्रुओं का जीतने वाला विजेता भी मन को जीत लेने में असमर्थ सिद्ध होता है और मन का गुलाम बनकर जगत् का भी गुलाम बन जाता है। उसकी समग्र विजय पराजय में परिणत हो जाती है। रावण की कथा बच्चा-बच्चा जानता है। कितना प्रचण्ड वीर था वह! उसके प्रताप के सामने देवता भी फीके पड़ जाते थे। बड़े-बड़े शूरवीर सम्राट् उसके तलुवे चाटते थे। उसकी उगली के इशारे पर बड़े-बड़े सेनापति काँप उठते थे। वह महान् प्रभावशाली, तेजस्वी विजेता था। किन्तु वह भी अपने मन को नहीं जीत सका। मन को न जीत सकने के कारण उसने सीता का हरण किया। वह वासना के वश में हो गया। उसके अविजित मन ने उसकी कितनी दुर्दशा की? उसका राज्य गया, सिंहासन गया, सोने की लंका गई और परिवार के साथ प्राण भी चले गये!

भाइयो! ऐसे-ऐसे प्रभावशाली और शूरवीर पुरुषों को भी जब मन अपना गुलाम बना कर मार डालता है तो साधारण पुरुषों की क्या गिनती है? वह तो पहले ही मरे हुए हैं। अतएव सच्ची विजय चाहते हो तो मन को जीतो।

देखो, प्रसन्नचन्द्र राजर्षि उत्कृष्ट तप कर रहे थे। राजा श्रेणिक भगवान् महावीर के दर्शन के लिए रवाना हुए। वही

भारी सेना उनके आगे आगे चल रही थी। राह में प्रसन्न-चन्द्र राजर्षि पर कुछ सैनिकों की नज़र पड़ गई। एक ने कहा--देखो, यह मुनिराज कैसे ध्यान में तल्लीन हैं? धन्य है इनकी तपस्या!

दूसरे ने कहा-ऊँह! यह भी कोई तपस्या है! यह यहाँ तप तप रहे हैं और वहाँ उनका पुत्र राजकुमार षड्यन्त्र का शिकार हो रहा है।

पहला सैनिक-सो कैसे?

दूसरा-यह महाराज अपने अल्पवयस्क उत्तराधिकारी को छोड़कर तपस्या करने निकल पड़े हैं राजकुमार को मंत्री आदि के सिपुर्द कर आये हैं। अब वे लोग जाल रच कर राज-कुमार के प्राण लेना चाहते हैं। वह वेचारा संकट में पड़ा हुआ है!

मन चंचल तो है ही! राजर्षि के कानों में यह शब्द पड़े तो उनका मन झट अपने राज्य में जा पहुँचा राजर्षि ने वहीं बैठे-बैठे, मन ही मन, युद्ध की तैयारियाँ कर लीं और युद्ध भी आरंभ कर दिया।

देखने वाले देखते है कि मुनिराज ध्यान में मग्न हैं, मगर मुनिराज का मन फिर राजा बन कर घोर युद्ध में लीन है! ऐसा है यह!

महाराज श्रेणिक भगवान् के पास पहुँचे तो उन्होंने प्रश्न किया-भगवन्। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि गाढ़े ध्यान में लीन हैं। कदाचित् इस समय उनकी मृत्यु हो जाय तो कहाँ उत्पन्न हों?

भगवान् ने कहा—पाँचवें नरक में ?

राजा—और अब मरें तो ?

भगवान्—छठे नरक में।

राजा—और अब और काल करें तो ?

भगवान्—सातवें नरक में।

इसी समय युद्ध में संलग्न राजर्षि का हाथ अकस्मात् अपने मस्तक पर जा पड़ा। राजमुकुट के बदले मुंडित सिर मालूम हुआ तो मानों वह सोते से जाग पड़े! सोचने लगे-अरे, कहां मैं अनगार और कहां यह मानसिक समर! मेरा इस जग से क्या नाता है ? अहा, मैं किस पाप में फँस गया! धिक्कार है रे मन, इतनी साधना करने पर भी तू ने मुझे छल लिया! मुझे पाप के पथ में ले गया!

इस प्रकार जितनी शीघ्रता से वे नीचे गिरे थे, उससे भी अधिक शीघ्रता से ऊँचे चढ़े! उसी समय घातिक कर्मों का क्षय हो गया और केवलज्ञान पाकर कृतार्थ हो गये!

देवों ने दुंदुभी बजाई! दुंदुभी का गंभीर निनाद सुनकर सम्राट् श्रेणिक ने उसी समय पूछा-प्रभो! यह दुंदुभीनाद किसलिए ?

भगवान्-प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को कैवल्य प्राप्त हो गया है।

राजा चकित रह गया। परिषद् विस्मित हो रही। कहाँ सप्तम नरक और कहाँ केवलज्ञान! मगर तीर्थङ्कर की वाणी पर कोई अविश्वास नहीं कर सका! प्रभु ने बतलाया-यह सब मन की करामात है।

मनोयोगो बलीयांश्च, भाषितो भगवन्मते ।
यः सप्तमीं क्षणार्धेन, नयेद्वा मोक्षमेव च ॥

भगवान् के मत में मनोयोग बड़ा ही बलवान् बतलाया गया है। वह आधे क्षण में सातवें नरक में पहुँचा सकता है और आधे क्षण में मोक्ष पहुँचा सकता है! अर्थात् मन की परिणति इतनी तीव्र वेग के साथ परिवर्त्तित होती है!

मातेश्वरी मरुदेवी की जीवन घटना याद है? वह हाथी के हौदे पर बैठ कर भगवान् ऋषभदेव के दर्शन करने गईं। शरीर पर बहुमूल्य आभूषण सुशोभित थे। बहुत दिनों से आशा लगाये बैठे थीं कि कब मेरा बेटा रिखबा मिले!

मरुदेवी माता को कोई दुःख नहीं था। केवल एक ही चिन्ता थी—ऋषभदेव को देखने की! वह सोचती थीं कि बेटे का जाते की पीठ तो देखी, पर आते का मुँह नहीं देखा! बेटे के प्रति माता को असीम ममता होती है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि माता के प्राण पुत्र में निवास करते हैं।

किन्तु अत्यन्त खेद है कि आजकल के कई कपूत बेटे बड़े होकर इतने कृतघ्न निकलते हैं कि माता को कुछ समझते ही नहीं। यही नहीं, बल्कि उसे कटुवाक्य कहते हैं! ऐसे कुपुत्र अपने जीवन में क्या सुख-शान्ति पा सकेंगे! असीम उपकार करने वाली माता का जो नहीं हुआ, वह और किसका होगा! समझदार और विवेकशील पुत्र समझता है कि मेरे पास जो भी कुछ है, वह सब माता-पिता का ही दिया हुआ है। यह शरीर भी उन्हीं से प्राप्त हुआ है। जिन्होंने स्वयं घोर कष्ट सहन करके मेरा पालन-पोषण किया और इस हैसियत पर पहुँचाया

है उनके उपकारों का बदला किस प्रकार चुकाया जा सकता है ! कदापि नहीं चुकाया जा सकता !

जो पुत्र माता-पिता के प्रति विनम्रतापूर्ण व्यवहार करता है, वही सच्चा बेटा है, नहीं तो ढेटा है । इसीलिए नीतिज्ञजन कहते हैं:—

मातरं पितरं चैव, साक्षात् प्रत्यक्षदेवताम् ।
मत्वा गृही निषेवेत, सदा सर्वप्रयत्नतः ॥
श्रावयेत्मृदुलां वाणीं, सर्वदा प्रियमाचरेत् ।
पित्रोराज्ञानुसारीस्यात्, स पुत्रः कुलपावनः ॥
यं मातापितरौ क्लेशं, सहेते संभवे नृणाम् ।
न तस्य निष्कृतिः शक्या, कर्तुं वर्षशतैरपि ॥

अर्थात्—माता-पिता को साक्षात् देवता समझ कर गृहस्थ को उनकी सदैव सब प्रकार से सेवा करनी चाहिए । सदा उनके साथ मधुर भाषण करना चाहिए और उन्हें जो अच्छा लगे वही करना चाहिए । माता-पिता की आज्ञा के अनुसार ही चलना चाहिए । जो पुत्र ऐसा व्यवहार करता है, वही अपने कुल को पवित्र करने वाला होता है ।

मनुष्य का जन्म, संवर्धन और पालन-पोषण करने में माता-पिता को जितना कष्ट झेलना पड़ता है, उसका बदला सैकड़ों वर्षों तक उनकी सेवा करके भी नहीं चुकाया जा सकता ।

वेद घोषणा करता है:—

मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव ।

अर्थात्—माता देवता है, पिता देवता है, अध्यापक देवता है।

नीतिशास्त्र ही माता-पिता की सेवा करने की प्रेरणा करता है, सो बात नहीं है। हमारे यहाँ स्थानांगसूत्र में भी बड़े प्रभावशाली ढंग से माता-पिता की सेवा करने का विधान किया गया है और बतलाया गया है कि माता-पिता का पुत्र पर इतनो अधिक उपकार है कि उसका बदला नहीं चुकाया जा सकता है!

अतएव जब तक मनुष्य गृहस्थावस्था में रहता है, तब तक उसका यह परम कर्त्तव्य है कि वह पूर्ण रूप से माता-पिता को सन्तुष्ट और सुखी रखने का प्रयत्न करे। उनके चित्त को क्लेश पहुँचाने वाला कभी कोई कार्य न करे।

भागवत में लिखा है कि कंस को मार कर श्रीकृष्ण वसुदेव और देवकी के पास पहुँचे और उनके पैरों में गिर गये। फिर बोले-हे माता-पिता, मैं इस दुष्ट कंस की क्रूरता के कारण आपकी सेवा से वंचित रहा। मुझे गोकुल में रहना पड़ा। यह मेरा दुर्भाग्य है! आप मेरी विवशता के लिए मुझे क्षमा करें।

सच है, जो बेटा सामर्थ्यवान् होकर भी अपने माता-पिता की सेवा नहीं करता है, उसे पेट का कीड़ा समझना चाहिए। वह नरक का अधिकारी है।

श्री कृष्णजी तो मर्यादा-पुरुष थे। जो पुण्यवान् होता है वह माता-पिता की कद्र करता है तथा अपने देश की और जाति की भी कद्र करता है। अपने श्रेष्ठ व्यवहार से उनकी

कीर्त्ति का विस्तार करता है। उनके मस्तिष्क को ऊँचा उठाता है। पापी जीव बेचारा क्या समझे ?

देखो, भगवान् ऋषभदेव गृह त्याग करके मुनि बन गये थे। पर भद्रहृदया माता मरुदेवी यही सोचा करती थीं कि कब लौटे मेरा बेटा ! उन्हें संसार संबंधी सब सुख प्राप्त थे। किसी भी वस्तु की कमी नहीं थी। मगर माता का हृदय तो पुत्र को ही चाहता था। रात-दिन उन्हें यही चिन्ता रहती कि मेरा बेटा आ जाय !

एक दिन भरत महाराज अपनी दादीजी को प्रणाम करने गये। देखा, दादीजी चिन्तातुर हैं और उनके नेत्रों से आँसुओं की वर्षा हो रही है। तब भरतजी ने उनकी चिन्ता का कारण पूछा-दादीजी, आपको क्या दुःख है ? मेरे जीते जी आप दुःखी रहीं और मैं आपके दुःख की उपेक्षा करता रहा तो मेरा जीवन ही वृथा है। कृपा करके अपनी चिन्ता का कारण बतलाइए।

माता-बोलीं-देख भरत, मुझे दुःख इस बात का है कि तेरे पिता की कोई खबर नहीं मिली। तू ने कोई समाचार भी नहीं मँगवाया ! तू राजा हुआ तो अपने बाप के प्रताप से हुआ है। यह सब ठाठ लग रहा है तो सब उसी की बदौलत। लेकिन तू उसकी खबर भी नहीं मँगवाता और मुझसे पूछता है कि क्या दुःख है ?

तब भरतजी ने कहा-दादीजी, नाराज़ न होओ। चिन्ता मत करो। मेरे पिताजी विनीता के उद्यान में पधारेंगे और आप सुख पूर्वक उनके दर्शन करना।

भरतजी दादी को सान्त्वना देकर राजसभा में आकर बैठे। उद्यानपाल ने आकर संवाद सुनाया-बधाई है पृथ्वीनाथ बधाई है! पधार गये हैं भगवान् ऋषभदेव!

भाइयो! प्रथम तो पुण्यशाली को कोई चिन्ता होती ही नहीं; और यदि होती है तो तत्काल दूर भी हो जाती है। माता मरुदेवी तो महान् पुण्य की धनी थीं। फिर उनकी चिन्ता कैसे ठहर सकती थी?

भरतजी ने भगवान् के आगमन का समाचार सुना तो हर्ष की सीमा न रही। उन्होंने हर्ष-विभोर होकर हजारों मोहरें बागवान को इनाम में दे दीं।

क्या सुना? इसे कहते हैं धर्म का अनुराग!

हम एक गाँव में जा रहे थे। एक भील ने हमें देखा। उसने एक श्रावक के पास जाकर कहा-तुम्हारे गुरुजी आये हैं! तब उस श्रावक ने कहा-अच्छा, मैं तुमसे पाँच रुपया माँगता था, वह माफ कर दिये!

कबीरदासजी कहते कि जिसे साधु के आने की खुशी और जाने का रंज नहीं होता, उसकी मुक्ति नहीं होती!

साधु के आगमन पर हर्ष और गमन करने पर विषाद उसी को होगा, जिसके हृदय में धर्म के प्रति अनुराग हो। मनुष्य होकर जिसने धन-दौलत पर ही अनुराग रक्खा और धर्म पर अनुराग न किया, उसने मनुष्य भव का कोई फायदा नहीं उठाया। उसका यह जीवन व्यर्थ हो गया।

पूज्य दौलतरामजी महाराज ज्ञान प्राप्ति के लिए लींबड़ी

पधारे। इनके आगमन का किसी ने किसी को समाचार दिया। तब उस समाचार सुनाने वाले को १२००) रुपये पारितोषिक में दे दिये।

भाइयो! आपको भी कभी ऐसी प्रसन्नता हुई है? आपका ध्यान तो 'ब्लैक मार्केट' में ही रहता है!

हम उदयपुर गये तो हमारे पहुंचने की खुशी में एक गृहस्थ ने हजामत बनवाते हुए सोने के कड़े इनाम दे दिये! जब हम झालरापाटन गये तो वहाँ के एक भाई ने कानों का जेवर उतार कर खबर देने वाले को भेंट कर दिया! इसे कहते हैं धर्मप्रेम! यह कहलाती है गुरुभक्ति! जिनके हृदय में धर्म के प्रति ऐसा अनुराग होता है, उन्हीं का कल्याण होता है।

कई दिन के भूखे को खीर-खान्ड का भोजन मिलने पर जैसी प्रसन्नता होती है और जन्म के दरिद्र को धन-सम्पत्ति प्राप्त होने पर जैसा हर्ष होता है, वैसी ही प्रसन्नता और वैसा ही हर्ष सन्तों के आने पर होना चाहिए। ऐसा हर्ष हो तो समझना चाहिए कि आत्मा का कल्याण होने वाला है!

हाँ, तो भरत महाराज को भगवान् आदिनाथ के पदार्पण करने पर अपार हर्ष हुआ। इधर सवारी तैयार करने का आदेश दिया और उधर तत्काल दादीजी को हर्षसंवाद सुनाने चले। मरुदेवी माता ने संवाद सुना तो उन्हें भी बहुत प्रसन्नता हुई कि मेरा रिखवा आ गया है! उन्होंने सोचा--चलूँ, अपने बेटे को बधा कर लाऊँ! बहुत वर्षों से आया है।

भरत महाराज अपने परिवार के साथ, बड़ी धूमधाम से दादीजी को साथ लेकर भगवान् के दर्शन करने गये। माता

मरुदेवी ने भगवान् को देखो तो आश्चर्य में आ गईं। उनका तो रङ्गढङ्ग ही बदला हुआ था ! फिर विचारधारा दूसरी ओर मुड़ी। परिणामों में उत्कृष्ट रसायन आ गई। मोह के संस्कार विलीन हो गए। अद्भुत ज्योति जाग उठी। हाथी के हौदे केवल ज्ञान रूपी लक्ष्मी की प्राप्ति हो गई।

भाइयो ! यह है मनोविचारों का परिणाम ! मन की धारा बदलते देर नहीं लगती। इसी कारण मन को साधने की आवश्यकता है। अपना कल्याण चाहते हो तो मन की साधना करो।

केशी स्वामी के प्रश्न करने पर गौतम स्वामी ने उत्तर दिया था—

पधावन्तं निगिण्हामि, सुयरस्सीसमाहियं।
न मे गच्छइ उम्मग्गं, मग्गं च पडिवज्जइ॥

—उत्तराध्ययन, २३-५६

केशी श्रमण ने प्रश्न किया था-मन अत्यन्त साहसिक है, भयानक है, और दुष्ट घोड़े की तरह इधर उधर दौड़ता फिरता है। गौतम ! आप इस घोड़े पर सवार होते हुए भी क्यों नहीं भटकते ? इस प्रश्न के उत्तर में गौतम स्वामी न जो कहा है, वह हम सब के लिए अत्यन्त उपयोगी, है। गौतम स्वामी कहते हैं-मन का घोड़ा उछल-कूद तो बहुत मचाना चाहता है और इधर-उधर भागने का प्रयत्न भी करता है, किन्तु मैं लगाम लगा कर इसे काबू में कर रखता हूँ। मन रूपी घोड़े की लगाम श्रुत है। अर्थात् शास्त्र के चिन्तन, अध्ययन और मनन करने से मन वश में हो जाता है। श्रुत की लगाम लगा देने

पर वह उन्मार्ग में नहीं जाता है और सही मार्ग पर ही चलता है।

इस कथन से स्पष्ट है कि मन की चपलता को जीतना कठिन है, असंभव नहीं है। यथोचित सतर्कता बरती जाय तो उस पर काबू पाया जा सकता है। उस पर काबू पाने का उपाय श्रुत-सेवन ही है। आप स्वाध्याय करने में दत्तचित्त हों। स्वाध्याय प्रतिदिन, नियमित रूप से करें, समझ के साथ करें और मन को उसमें पिरो दें तो मन को वशीभूत कर सकते हैं।

आजकल स्वाध्याय की प्रथा लुप्त-सी हो गई है। इसी कारण समाज में धार्मिक ज्ञान की भी न्यूनता देखी जाती है। कोई अन्यधर्मी आपसे आपके धर्म के विषय में पूछे तो आप उत्तर नहीं दे सकते। कोई वाद--विवाद करना चाहे तो आप नहीं कर सकते। मगर पहले ऐसी बात नहीं थी। भगवान् महावीर के श्रावक भी अन्यमतावलम्बियों से डट कर वाद--विवाद करते थे और उन्हें अपने धर्म का महत्त्व समझाते थे। शास्त्रों में ऐसा अनेक प्रसंगों का वर्णन मिलता है। आज भी दिगम्बर जैन समाज में स्वाध्याय करने की प्रथा है। उस समाज में सैकड़ों गृहस्थ विद्वान् हैं और वही धार्मिक परंपराओं को जारी रक्खे हुए है। आपने सारा भार साधुओं को सौंप दिया है और आप एक मात्र धन--दौलत की कमाई में लगे हुए है। क्या इसी प्रकार आप धर्म की रक्षा करेंगे? इसी तरीके से वीतराग भगवान् के शासन की महिमा बढ़ाएँगे? भाइयो, आपको विचार करना चाहिए। यह अनमोल जैन मार्ग आपको मिला है। इस पर चल कर कम से कम अपना कल्याण तो कर लो!

स्वाध्याय दैनिक कर्म है। जैसे प्रतिदिन भोजन करते हो, उसी प्रकार प्रतिदिन स्वाध्याय भी करो। स्वाध्याय करने से अन्तःकरण में अपूर्व आलोक का उदय होगा और वह आलोक आपके जीवन को गलत राह से बचा कर सही दिशा में ले जाएगा।

भगवान् हम से कितनी ही दूर क्यों न हों, अगर आपने शुद्ध अन्तःकरण से उनका स्तवन, गुणगान और चिन्तन किया तो वह आपके पास ही हैं। आपके शुद्ध मन में ही आकर बस जाएँगे। अरे, तुम स्वयं भगवान् के रूप में पलट जाओगे।

ऐसा समझ कर परमात्मा की भक्ति करो तो आनन्द ही आनन्द होगा। तथास्तु।

१७-६-४६ }